भूमिका

आज की बालिकाएँ ही भविष्य में माताएँ बनेंगी और उन्हीं की गोद में राष्ट्र के संचालकों का पालन-पोषण होगा। इसलिए उन्हें आरम्भ से ही ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जो उन्हें भारतीय आदर्श के अनुकूल कुशल गृहिणी और सफल माता बनाने में सहायक हो सके। ऐसी दशा में महापुरुषों के जीवन-चरित्रों की अपेक्षा नारी-जीवन के चरित्र ही उनके लिए विशेष उपयोगी हो सकते हैं। प्रस्तुत पुस्तक का यही उद्देश्य है। इसमें भारत के अतीत कालीन नारी-जीवन के ऐसे चरित्र प्रस्तुत किए गए हैं जिनसे प्रत्येक प्रकार की जीवनोपयोगी शिक्षा मिलती है। सावित्री, सती, कौशल्या, सीता, गान्धारी, रुक्मिणी, लोपामुद्रा, वैशालिनी, अंजना और कल्याणी का भारतीय नारी-जीवन में अत्यन्त उच्च स्थान है और उनके चरित्रों से हमारी बालिकाओं को जो शक्ति, स्फूर्ति और प्रेरणा मिल सकती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए मुझे विश्वास है कि यह पुस्तक हमारी बालिकाओं का पथ-प्रदर्शन करने में सफल होगी।

—राजेन्द्रसिंह गौड़

विषय-सूची

: १ :

सती का तेज

वात सतयुग की है। उस समय भारतवर्ष के पंजाव प्रान्त मे मद्रदेश नाम का एक राज्य था। उसके राजा का नाम था अश्वपति। अश्वपति बड़े पराक्रमी और सद्‌गुणी थे। उनके राज्य में किसी प्रकार की अशान्ति नही थी। राजा बड़े सुख से राज करते थे।

राजा को यदि कोई दुःख था तो वह यह कि उनके कोई सन्तान नहीं थी। उनके इस दुःख से प्रजा भी चिन्तित थी। सन्तान होने के लिए रानी ने कितने ही व्रत-उपवास और यज्ञ-याग किये, परन्तु परिणाम कुछ न निकला। अन्त मे राजा ने इस विषय में सलाह करने के लिए ऋषि-मुनि तथा विद्वान ब्राह्मणों की एक सभा की। उस सभा मे यह निश्चय हुआ कि पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा जगल मे जाकर तपस्या तथा सावित्री देवी की उपासना करे। सावित्री देवी विधाता ब्रह्मा की प्रिय पत्नी है। उन्हे प्रसन्न करने से ब्रह्मा भी प्रसन्न होंगे और तव वह अपना विधान वदल देंगे।

विद्वानो की सलाह मान कर राजा वन मे तपस्या तथा सावित्री देवी की उपासना करने के लिए तैयार हो गये। रानी तथा प्रजा से विदा माँग कर वह तीर्थराज पुष्कर गये और वहाँ

एकाग्रचित्त हो सावित्री देवी का ध्यान करने लगे। पूरे अठारह वर्ष तक उन्होंने प्रतिदिन यज्ञ मे सावित्री-मन्त्र की एक लाख आहुतियाँ दीं और दिन छिपने के वाद कन्द-मूल खाकर अपना जीवन व्यतीत किया। अन्त मे सावित्री देवी उन पर प्रसन्न हुईं और उन्हें वरदान देकर अदृश्य हो गयीं।

कुछ दिनों वाद रानी के गर्भ से एक कन्या का जन्म हुआ। इससे राजा-रानी को वड़ी प्रसन्नता हुई। सम्पूर्ण देश में आनन्दोत्सव होने लगा। गरीवों को वहुत-सा धन दिया गया। यथाविधि जातकर्म और नामकरण संस्कार हुए। सावित्री देवी के वरदान से वालिका का जन्म हुआ था, इसलिए सावित्री ही उसका नाम रखा गया।

शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की तरह, सावित्री दिन-प्रतिदिन वढ़ने लगी। ज्यों-ज्यों वर्ष वीतते गये, त्यों-त्यों कन्या का रूप-लावण्य भी निखरता गया।

धीरे-धीरे सावित्री विवाह योग्य हो गई। पर सावित्री से विवाह करने के लिए कोई आगे नहीं आया। यह देख कर राजा एकदम निराश हो गये। अन्त में उन्होंने एक दिन सावित्री को वुला कर कहा, "वेटी। अव तेरे विवाह का समय आ गया है, किन्तु मेरे सामने कोई युवक तुझे ग्रहण करने की इच्छा से नहीं आया। इसलिए, मै तुझे आज्ञा देता हूँ कि तू स्वयं अपने योग्य पति खोज ले। तू जिस वर को पसन्द करेगी उसी के साथ मै तेरा विवाह कर दूँगा।"

पिता का आदेश पाकर शुभ मुहूर्त मे सावित्री ने यात्रा प्रारम्भ की। कितने ही नदी, गाँव, नगर, वन और पर्वतों को पार

करते हुए उसका रथ आगे बढ़ा। अन्त मे वह एक रमणीक सुन्दर तपोवन मे पहुँची। तपोवन की शोभा देखकर उसके मन में अपूर्व आनन्द का सचार हुआ। वहाँ अनेक ऋषियों के आश्रम थे। दूर से ही उनकी स्वच्छ पर्णकुटियाँ दिखाई देती थीं। प्रत्येक आश्रम मे हवन, तप और वेद-गान हो रहे थे। यज्ञ-याग के कारण सारे तपोवन की वायु सुगन्धित हो रही थी। किसी जगह मोर नाच रहे थे, कही गाये अपने बछड़ो के साथ शान्त भाव से चर रही थीं। यह सब देखकर सावित्री को बड़ा सुख मिला। उसका चित्त कुछ स्वस्थ हुआ। अन्य सब सखियों को पीछे छोड़, केवल एक सखी के साथ, पैदल ही वह तपोवन मे घूमने लगी। इतने मे एक आश्रम पर उसकी नजर पडी और सावित्री का पैर एकदम रुक गया। वह एकटक उस ओर देखने लगी, उसके नेत्र वही स्थिर हो गये, शरीर चेतनारहित हो गया और मुँह से शब्द निकलना बन्द हो गया। उसकी यह हालत देखकर साथ वाली सखी भी अवाक् रह गई। सखी के पूछने पर आश्रम मे बैठे हुए एक तरुण तपस्वी की ओर इशारा करके सावित्री ने कहा—"सखी! इस ऋषिकुमार को तो देख, कैसा सुन्दर है।"

कुछ देर मे सावित्री के अन्य साथी भी आ पहुँचे और सब उस आश्रम के सामने आ गये। वहाँ एक सुन्दर युवक घोडे के एक बछेडे के साथ खेल रहा था। किशोरावस्था से वह युवावस्था में पैर रख चुका था। यौवन की छटा से उसके अङ्गो की स्वाभाविक सुन्दरता विशेष तेजस्वी हो गई थी। उसमे बालकों की-सी सरलता और नम्रता थी। आश्रम के पास रथ के पहुंचते ही वह भी कुतूहलवश उसके सामने आ गया। सावित्री का अपूर्व दैवी

रूप, उसकी सखियों के वहुमूल्य वस्त्राभूषण तथा उसकी राज्योचित पोशाक देख कर उसे वहुत आश्चर्य हुआ। इतने में, ऋषिकुमार को पास आते देख कर, सावित्री के साथी मंत्री ने पूछा—"ऋषिकुमार! हम लोग देश-भ्रमण के लिए निकले है। हम जानना चाहते है कि यह सुन्दर आश्रम किसका है? क्या हम रात भर यहाँ ठहर सकते है?"

युवक ने उत्तर दिया—"श्रीमन्! यह आश्रम राजर्पि द्युमत्सेन का है। मै उनका पुत्र हूँ। मेरा नाम सत्यवान है। मेरे पिता शाल्व देश के राजा थे, परन्तु अठारह वर्प हुए, उनके शत्रुओं ने उन्हें अपने राज्य से हटा दिया है। वे अन्धे है और अभी आश्रम मे तपस्या कर रहे है। चलिए, मै आपको उनके पास ले चलता हूँ।"

सत्यवान का ऐसा विनम्र उत्तर सुनकर सवको वडी प्रसन्नता हुई। इसके वाद वे उनके आश्रम में गये। द्युमत्सेन उनका परिचय पाकर वड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने सावित्री को आशीर्वाद तथा सत्यवान को यथाविधि अतिथियों की सेवा करने का आदेश दिया। सत्यवान ने उनका यथोचित सत्कार किया और अनेक ऋपियों तथा ऋषि-कन्याओं से उनका परिचय कराया। इस प्रकार कुछ दिन तपोवन मे रहने के वाद सावित्री, सत्यवान तथा उसके माता-पिता की आज्ञा लेकर, वहाँ से विदा हुई।

सावित्री अपने लिए वर पसन्द करके घर लौट आई और सवसे पहले पिता के चरणो में दण्डवत प्रणाम करने गई। इस समय देवर्पि नारद भी वहाँ उपस्थित थे। सावित्री ने पहले उनको नमस्कार कर, फिर पिता के चरणों मे सिर नवाया।

नारद सावित्री का रूप-लावण्य और उसका शील-स्वभाव देख कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने सावित्री के संबंध में अश्वपति से पूछ-ताछ की और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उसने शाल्व देश के राजा द्युमत्सेन के पुत्र सत्यवान को अपना वर चुना है तब उन्हें कुछ चिन्ता हुई। उन्होंने राजा से कहा—"सावित्री ने यह ठीक नहीं किया। इसमें सन्देह नहीं कि सत्यवान तेजस्वी, रूपवान, गुणी, बुद्धिमान् और सच्चरित्र है। उसका शरीर भी सबल, स्वस्थ और सुगठित है। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि उसे पसन्द कर सावित्री ने बड़ी भारी भूल की है।"

राजा अश्वपति देवर्षि का तात्पर्य न समझ सके; इसलिए नम्रतापूर्वक उन्होंने पूछा—"देवर्षि! आपने सत्यवान के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा उससे तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि सावित्री ने योग्य वर पसन्द किया है। फिर भी आप यह किस तरह कहते हैं कि उसने ठीक नहीं किया? आपके शब्द सुन कर मेरे हृदय में अनेक प्रकार की शंकाएँ होती हैं, इसलिए कृपा कर मेरे हृदय की सब शंकाएँ दूर कीजिए।"

नारद इस संबंध में कुछ कहना नहीं चाहते थे, पर राजा के आग्रह का विचार कर वह बोले—"सत्यवान में गुणों के होते हुए भी एक दोष ऐसा बड़ा है कि वह सब गुणों पर परदा डाल देता है। वह दोष यह है कि उसकी आयु क्षीण है। आज से ठीक एक वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो जाएगी। इसीलिए मैं कहता हूँ कि सावित्री ने यह चुनाव अच्छा नहीं किया।"

नारदजी की बात सुनकर राजा अश्वपति का मुंह सूख गया। वह अधिक चिन्तित हो गये। सावित्री का स्वभाव वह

जानते थे। वह समझते थे कि सावित्री अपने प्रण से डिगने वाली नहीं है। फिर भी उन्होने साहस करके चिन्तित स्वर में उसे अपने पास वुलाकर कहा—"वेटी! देवर्षि के मुँह से तुमने सव सुन लिया है, इसलिए अव मेरा आग्रह है कि तुम अपने मन से सत्यवान का विचार निकाल दो और अपने लिए कोई दूसरा वर पसन्द कर लो।"

सावित्री ने कोई उत्तर नही दिया। नीचे की ओर मुँह किए हुए वह चुपचाप आँसू वहाने लगी। उसकी ऐसी दशा देखकर अश्वपति को आगे कुछ भी कहने का साहस नही हुआ। थोड़ी देर तक मौन रह कर वह उसके उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे।

सावित्री के हृदय में उथल-पुथल मची हुई थी। उसे आज अपने जीवन के संवंध मे अन्तिम निर्णय करना था। आर्य-धर्म का महत्व वह समझती थी। नारी धर्म से भी वह भली भाँति परिचित थी। इसलिए अपनी चिन्ताओं को दवाते हुए कुछ दृढ़ता और साहस से वह वोली—"मैं सत्यवान को आत्म-समर्पण कर चुकी हूँ, तव फिर वह चाहे अल्पायुषी हो या दीर्घा-युषी, गुणवान् हो या गुणहीन, जव तक उसकी देह मे प्राण है तव तक मैं किसी दूसरे के साथ विवाह नहीं करूँगी। यही मेरा अन्तिम निश्चय है।"

सावित्री का यह उत्तर सुनकर और उसका अपूर्व तेजस्वी मुख देखकर अश्वपति कुछ भी न वोल सके। देवर्षि नारद को उसके निश्चय से वड़ी प्रसन्नता हुई। सावित्री की ओर देखकर उन्होने कहा—"सावित्री! तू स्त्रियों मे धन्य है। सती-धर्म मे तेरी अपूर्व निष्ठा देखकर मै अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। मै तुझे

आशीष देता हूँ कि तेरे द्वारा संसार मे सतीत्व की महिमा उज्ज्वल रूप से फैलेगी और तू सत्यवान से विवाह कर दीर्घकाल तक उसके साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करेगी।"

सावित्री को आशीर्वाद देकर नारद उठे और अपनी वीणा बजाते हुए वहाँ से किस ओर चले गये, कुछ पता नही।

राजा अश्वपति ने विवाह की तैयारी आरम्भ कर दी। तपोवन-निवासी राजर्षि के पुत्र के साथ विवाह करना था, इसलिए अधिक ठाट-बाट की आवश्यकता नहीं थी। अपने विपत्ति के मारे वनवासी समधी को बारात लेकर अपने यहाँ आने का कष्ट देना भी राजा अश्वपति को उचित प्रतीत नही हुआ। इसलिए अच्छा दिन देखकर थोड़े-से सगे-सम्बन्धी, राजपुरोहित तथा नौकरो को लेकर वह उनके पास तपोवन मे पहुँचे। अपना परिचय देने तथा साधारण शिष्टाचार के बाद उन्होंने अन्ध-राजर्षि को अपने आने का कारण बताया। द्युमत्सेन को उनकी बातों से बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सावित्री के साथ सत्यवान का विवाह करना स्वीकार कर लिया। इसके बाद शुभ-मुहुर्त मे, ऋषियो और ऋषि-पत्नियो के सामने, पवित्र अग्नि की साक्षी मे, वेदोच्चारण के साथ, सावित्री का सत्यवान के साथ विवाह हो गया। विवाह के पश्चात् पुत्री को तपोवन में ही छोड़कर राजा अश्वपति अपनी राजधानी को लौट गये।

पिता के चले जाने पर सावित्री ने राजकीय वेश तथा हीरा-मोती आदि के आभूषणो का परित्याग कर दिया और सत्यवान के जैसे गेरुए वस्त्र धारण कर लिये। इस प्रकार सावित्री राजकुमारी से तपस्विनी बन गई। वह सच्चे हृदय से आश्रम-धर्म

का पालन करने लगी। स्वामी तथा सास-ससुर की सेवा, अतिथि-सत्कार, पूजा-पाठ तथा यज्ञ-याग आदि की सामग्री तैयार करना उसका नित्य प्रति का काम हो गया और अपने इस कर्त्तव्य का उसने वड़ी सावधानी तथा सुन्दरता से पालन किया। पशु-पक्षियो को दाना-पानी देना, तरु-लताओं को सींचना आदि सव काम वह स्वयं अकेले करने में किसी प्रकार का दु.ख या कष्ट अनुभव नहीं करती थी। अपने पति के सव कामो मे भी वह उनकी सहायता करती थी। इस प्रकार उसके दिन कटने लगे। सव देखते थे कि सावित्री गृहस्थी के सुख भोग रही है, परन्तु उसके मन मे रात-दिन जो एक मर्म-भेदी पीड़ा रहा करती थी, उसका पता या तो स्वयं उसे था या फिर सर्वान्तर्यामी भगवान् को।

समय जाते देर नहीं लगती। एक-एक दिन करके एक वर्ष वीतने में केवल चार दिन रह गये। चार दिन के वाद सत्यवान की मृत्यु ! इसे जानते हुए भी सावित्री के हाथ-पैर नहीं फूले। भगवान् के चरणों मे सम्पूर्ण आत्म-समर्पण करके उसने त्रिरात्रि-व्रत आरम्भ किया। इन तीन दिनों के लिए उसने अन्न, जल आदि सव छोड़ दिया।

सायकाल द्युमत्सेन को खवर हुई। उन्होने सावित्री को समझाया, पर सावित्री टस-से-मस न हुई। तीन दिन वीत गये। चौथे दिन प्रात.काल देव-यज्ञ के लिए प्रज्वलित अग्नि मे हवन कर सावित्री ने उसमे आहुति दी। फिर सव वनवासी व्राह्मणों और सास-ससुर को प्रणाम कर उनका आशीर्वाद माँगा। सवने उसे एकस्वर से "अखण्ड सौभाग्यवती हो" कह कर उसे आशीर्वाद दिया। नीचे मुँह किए हुए हृदय की एकमात्र इच्छा को परिपूर्ण

करने वाला यह आशीर्वाद प्राप्त कर, सावित्री दृढ़ एवं स्थिर चित्त से काल-मुहूर्त की वाट जोहने लगी। उस दिन भी सायंकाल तक उसने कुछ भी नही खाया।

दिन बीता। सत्यवान ने अपनी कुल्हाड़ी उठाई और वन की ओर प्रस्थान किया। विधाता का लेखा पूरा होने का समय आ गया। सावित्री समझ गयी। वह तपाक से उठी। अपने सास-ससुर से आज्ञा लेकर वह भी सत्यवान के साथ चल दी। वन मे कुछ दूर निकल जाने पर, सत्यवान् एक विशाल वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया। उसने सावित्री के मुँह की ओर देखा तो उसका चेहरा सूख कर कुम्हलाया हुआ दीख पड़ा। उसके मुँह पर रास्ते की थकान और चिन्ता के चिह्न नजर आये, इसलिए सत्यवान उसे उस वृक्ष के नीचे वैठा कर स्वयं पास के जगल मे लकड़ी काटने के लिए चला गया। सावित्री वृक्ष के नीचे वैठ कर अपने अदृष्ट भविष्य की वाट जोहने लगी। इतने में सत्यवान कुल्हाड़ी से लकड़ी काटते-काटते एकदम सिर मे अत्यन्त पीड़ा हो जाने से विह्वल होकर कराहता हुआ सावित्री के पास आ पहुँचा। लकड़ी और कुल्हाड़ी उसी जगल मे जहाँ-की-तहाँ पडी रह गयी।

सावित्री ने पति को पकडकर अपनी गोद मे उसका सिर रख लिया और उसे सावधानी से पृथ्वी पर लिटा दिया। उसकी वेदना धीरे-धीरे वढ़ने लगी। सावित्री के मुँह की ओर प्रेम-पूर्वक देखकर, अस्पप्ट शव्दो मे कुछ कहने का प्रयत्न करते हुए, उसने आँखे वन्द कर लीं। उसके सारे शरीर से पसीना वहने लगा। थोडी देर मे उसका समूचा शरीर ठंडा पड़ गया। उधर

सूर्यदेव अस्त हुए। इधर सावित्री का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो गया।

सावित्री मृत पति की देह को गोद में रख उसके मुँह की ओर टकटकी लगा कर देखती हुई मूर्ति की तरह अचल बैठी रही। विलाप तक करने की उसमें शक्ति नहीं थी। सत्यवान का शरीर निष्प्राण होते ही उसे लेने के लिए यमदूत वहाँ आ पहुँचे। पर वे सती का तेज देख कर सत्यवान के पास न जा सके। वे दूर से ही वापस लौट गये। ऐसी दशा में स्वयं यमराज को ही वहाँ आना पड़ा। उनके हाथ मे मत्यु-पाश था उनका तेज देख कर सावित्री खड़ी हो गई और दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करती हुई वोली—"अवश्य ही आप कोई देवता है। कृपा कर कहिए, आप कौन हैं और किस लिए यहाँ पधारे हैं?"

यमराज ने कहा—"सावित्री! मैं यमराज हूँ। तेरे स्वामी सत्यवान की आयु समाप्त हो गई, इसलिए मैं उसे लेने आया हूँ।"

सावित्री वोली—"यमराज! पर मैंने तो सुना है कि मनुष्यों की जीवात्मा को लेने के लिए आपके दूत आते हैं, तव आज स्वयं आपने क्यों कष्ट किया?"

यमराज ने कहा—"सत्यवान सत्यपरायण, साधु और संयमी था। मेरे दूत ऐसे पुण्यात्मा को स्पर्श करने योग्य नहीं थे, इसलिए मैं स्वयं आया हूँ।"

सावित्री ने सत्यवान को अपनी गोद से नीचे उतार दिया। इसके वाद यमराज उसके शरीर में से सूक्ष्म प्राण निकाल कर

जिस ओर से आये थे उसी ओर चलने लगे। सावित्री भी उनके पीछे हो ली। यम ने पीछे फिर कर देखा तो सावित्री उनके साथ थी। उन्होने मन ही मन उसकी सराहना करते हुए कहा—"सावित्री? यह क्या? तू मेरे साथ क्यो आती है? मरा हुआ मनुष्य फिर वापस नही आता। तू बुद्धिमती है, चुपचाप घर जा। अधकार वढ रहा है और इस निर्जन वन मे तू अकेली है। तुझे अपने पति की उत्तर-क्रिया भी करनी है।"

सावित्री के नेत्रो से टपाटप आँसू गिरने लगे। रोती हुई वह बोली—"स्वामी-रहित कुटी मे मैं कैसे रहूँगी? यमराज! आप जानते है कि स्त्री का सर्वस्व पति ही है। पति ही उसकी परमगति है। इसलिए आप मेरे स्वामी को जहाँ ले जायगे वही मैं भी चलूंगी।"

सावित्री की वात सुनकर यमराज हँसे। उन्होने कहा—"तू यमपुरी तक किस तरह मेरे साथ जा सकती है? क्या कभी ऐसा हो सकता है? पूर्वजन्म के कर्मानुसार सत्यवान की आयु पूरी हो चुकी, इसीलिए मैं उसे ले जाता हूँ। तू समझदार होते हुए भी मरे हुए मनुष्य के लिए क्यो विलाप करती है? मेरा कहना मान और घर लौट जा।"

यम की यह वात सुन कर सती सावित्री ने जो-जो उत्तर दिये, उन्हे सुनकर यमराज आश्चर्य-चकित रह गये। धर्म क्या है, अधर्म क्या है, शुभ-कर्म किसे कहते है और अशुभ किसे कहते हैं—इन सव विषयो पर सावित्री ने अत्यन्त गम्भीर प्रश्न किए। इन प्रश्नो को सुनकर यमराज निरुत्तर हो गये। सावित्री की असाधारण प्रतिभा, असाधारण शास्त्र-ज्ञान, असाधारण

विचार-शक्ति तथा एकनिष्ठ पति-भक्ति देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—"सावित्री! प्यासे आदमी को पानी मिलने पर जिस तरह तृप्ति होती है, उसी तरह आज तेरे प्रश्नो से मै तृप्त हुआ हूँ। तेरे मुँह से निकले हुए प्रत्येक शब्द ने मेरे कानों मे अमृत-वर्षा की है। सत्यवान के जीवन के सिवाय दूसरी जो वस्तु चाहे माँग, मै वही तुझे दूँगा।"

सावित्री ने कहा—"यमराज! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हुए है, तो मुझे ऐसा वरदान दीजिए कि मेरे वृद्ध सास-ससुर का अन्धापन दूर हो, उन्हे फिर दीखने लगे और वे सूर्य के समान तेजस्वी वने।"

"तथास्तु।" कहकर यम ने कहा, "तू वहुत थक गई है, अव घर लौट जा।"

सावित्री ने कहा—"पति के पास रहने से मुझे थकान कैसे आ सकती है। पति की जो गति होगी, वही मेरी भी होगी। वह जहाँ जायंगे, वहीं मै भी जाऊंगी। इस विपय मे मै आपके रोके रुक नहीं सकती।"

यमराज उसकी पति-भक्ति पर रीझ गये। उन्होंने उससे सत्यवान के जीवन के अतिरिक्त फिर एक वरदान माँगने को कहा। इस वार सावित्री ने कहा—"मेरे श्वशुर का राज्य शत्रुओ ने छीन लिया है, जिससे उन्हे वन में रहना पड़ता है; इसीलिए मुझे वर दीजिए कि ससुरजी को फिर स अपना राज्य प्राप्त हो और वह धर्म-मार्ग पर चलते हुए सुख से राज्य करे।"

यम ने "तथास्तु" कहा। सावित्री ने फिर यमराज के साथ धर्म की वातचीत छेड़ी और उन्होने सव वाते एकाग्र-चित्त

से सुनीं। उसकी बातों को सुनकर वह बहुत प्रसन्न हुए और एक साथ दो वरदान और माँगने को कहा। तब सावित्री ने तीसरा वरदान यह माँगा कि मेरे पिता अश्वपति के सौ पुत्र हों। यम ने सन्तुष्ट हो "तथास्तु" कहा। अब चौथा वरदान माँगने की बारी आई। इस समय सावित्री ने अपने हृदय की सच्ची बात प्रकट की। उसने कहा—"सत्यवान के द्वारा मेरे सौ पुत्र उत्पन्न हों और वे मेरे कुल को उज्ज्वल करें, यही मेरी अन्तिम प्रार्थना है।" यमराज ने इस पर भी अनायास ही "तथास्तु" कह दिया। सावित्री की सत्यनिष्ठा, उसकी पतिभक्ति और उसकी विद्वत्ता ने उन्हें ऐसा मोह लिया कि वह क्या कह रहे हैं?—इसका भी उन्हें ध्यान नहीं रहा।

सावित्री का मनोरथ सिद्ध हो गया। उसने जिस वरदान की प्राप्ति के लिए इतनी कठोर तपस्या की थी उसका फल आज उसे मिल गया। उसने नम्रतापूर्वक यमराज से कहा—"देव! आपने कृपाकर सत्यवान के द्वारा मुझे सौ पुत्र होने का वरदान दिया है। इसलिए अब आप कृपाकर मेरे पति के प्राण लौटा दीजिए। इसी से आपका वचन सत्य होगा।"

वचन से बंधे हुए यमराज अब क्या करते? उन्होंने कहा—"सावित्री! तू धन्य है। ले, तेरे स्वामी का प्राण वापस करता हूँ। अब तू तुरन्त जंगल को लौट जा। तेरा पति सत्यवान फिर जीवित हो गया है।"

परमात्मा की इच्छा विचित्र है। यह चराचर जड़-चेतन—संसार उसके नियमों से बंधा हुआ है। जन्म-मृत्यु, उन्नति-

अवनति तथा उत्पत्ति-विनाश, सव उसके नियमानुसार होते हैं, परन्तु सती के ज्वलन्त सतीत्व का प्रभाव दिखाने एवं संसार में सती की मर्यादा स्थापित करने के लिए विधाता ने आज अपने नियम को भी अपवाद वनाकर सावित्री की प्रार्थना पूरी की।

सावित्री तुरन्त वहाँ लौट आई जहाँ जंगल में उसके पति का शव पड़ा हुआ था। वहाँ पहुंचते ही उसने सत्यवान को अंगड़ाई लेकर उठते और यह कहते हुए पाया—"सावित्री! रात वहुत गई मालूम होती है। मुझे वहुत नींद आ गई। अव तक तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं? चलो अव घर चले।"

सत्यवान के माता-पिता अपने पुत्र और पुत्र-वधू के वापस आने में बहुत देर हो जाने से अत्यन्त व्याकुल हो गये थे। सारी रात उन्होंने वन में दोनों को ढुँढ़वाया। इतने में दिन निकलते-निकलते सावित्री और सत्यवान ने पहुंच कर माता-पिता के चरणों में प्रणाम किया। उन्होंने वड़े प्रेम से पुत्र और पुत्र-वधू को छाती से लगाया और उनका कुशल-समाचार पूछा। यमराज के वरदान के कारण उनका अन्धापन दूर हो गया था, अत. आज अपनी आँखों से पुत्र और पुत्र-वधू को देखकर उनके नेत्र सफल हो गये।

दूसरे दिन शाल्व देश से सूचना मिली कि सेनापति ने शत्रुओं को हरा कर राजा द्युमत्सेन का राज्य वापस ले लिया है, अतः महाराज को अव राज्य-भार ग्रहण कर प्रजा का पालन करना चाहिए। वनवासी तपस्वियों ने आकर इस समाचार पर राजा को वधाई दी और उन्हें विधिपूर्वक राजवेश पहनाया। इसके वाद पुत्र और पुत्र-वधू सहित राजा-रानी राजधानी को वापस आये और वहुत वर्षों तक सुखपूर्वक राज करते रहे।

: २ :

अपमान का प्रायश्चित

हरिद्वार मे जिस स्थान पर गङ्गा नदी हिमालय से नीचे उतरी है, उसके सामने के मैदान को कनखल कहते हैं। प्राचीन काल मे दक्ष प्रजापति इस प्रदेश के राजा थे। उनका प्रताप खूब बढा-चढ़ा था। ऐश्वर्य और पराक्रम मे उनकी जोड़ का उस समय कोई नहीं था। वह महातपस्वी थे। उन्होंने कितने यज्ञ, कितने दान, कितने व्रत और अनुष्ठान किये, इसकी कोई गिनती ही नहीं थी।

दक्ष की राजधानी कनखल सुन्दरता मे अमरावती को भी मात करती थी। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य जैसा तब था वैसा ही आज भी है। हिमालय की ऊंची-ऊंची चोटियाँ आज भी आकाश से बाते करती हुई देखी जा सकती हैं। गंगा की भी वही शोभा है और उसका जल गिरिराज हिमालय अपने शिखर पर चढ़ाकर मेघमाला के सदृश उसके पास खड़ा है। किसी जगह जल पारे-जैसा सफेद है तो किसी जगह मेघ के समान शुभ्र। आँखो में तो उसे देखने से ही ठण्डक पहुंच जाती है।

राजा दक्ष के कई पुत्रियाँ थीं। वे बडी सुन्दर और रूपवती थीं। धीरे-धीरे राजकुमारियाँ बड़ी हुईं। बड़ी धूमधाम से प्रजापति दक्ष ने उनका विवाह किया। विवाह के बाद, एक-

एक करके, राजकुमारियाँ अपनी-अपनी ससुराल गईं और आनन्द पूर्वक अपने घर-वार सम्हालने लग गयीं।

परन्तु दक्ष की एक कन्या अभी तक कुमारी थी। उसका नाम था सती। वह सवसे छोटी थी। उस पर माता-पिता का सवसे अधिक स्नेह था। वह अपनी सव वहनों से अधिक रूपवती थी। उसका शरीर ही नहीं, उसका मन भी सुन्दर था। उसका स्वभाव वड़ा कोमल था। वनाव-श्रृंगार मे उसका मन नहीं लगता था। वह एकान्त में रहना पसन्द करती थी। उसके विचार वड़े गभीर और ऊंचे होते थे। खेल-कूद से उसे घृणा थी। वह अपने शरीर पर भस्म लगाती थी, हाथ मे रुद्राक्ष की माला रखती थी और प्रायः गेरुआ वस्त्र धारण करती थी। राजा दक्ष ने जव सती की यह दशा देखी तव उन्हे भी वड़ी मनोवेदना हुई।

राजा दक्ष को अव उसके विवाह की चिन्ता हुई। इस कार्य मे परामर्श लेने के लिए उन्होंने एक दिन देवर्षि नारद को वुलवाकर कहा—"नारद! तुम इधर-उधर वहुत घूमते रहते हो। गरीव-अमीर, गृहस्थ-संन्यासी, सव लोगों में तुम्हारी पैठ है। अपने मित्रों की सहायता से, सती के लिए, अगर तुम कोई योग्य वर ढूंढ़ लाओ तो वड़ा अच्छा हो।"

"अच्छा!" कहकर नारदजी वर ढूंढ़ने चल दिये। वहुत-कुछ खोज के वाद, वह फिर कनखल आये। राजा-रानी से उन्होंने कहा—"तुम्हारी सती के लिए मैंने एक वहुत योग्य वर खोजा है। उससे अधिक योग्य वर मुझे और कोई नहीं मिला।"

"कौन?"—दक्ष ने उत्कण्ठा से पूछा।

"कैलाशपति शंकर"—नारद ने गंभीरतापूर्वक कहा।

नारद का यह कहना था कि राजा दक्ष का पारा चढ़ गया। पर वह कुछ कहे, इससे पहले ही रानी वोल उठी—"कैलाश-नगरी! वह तो वहुत दूर है। रास्ता भी वड़ा विकट है। यदि सती को हम इतनी दूर व्याह देंगे तो जव चाहेंगे उससे मिल भी नहीं सकेंगे और न हाल-चाल ही मालूम कर सकेंगे।"

नारद वोले—"रानी! तुम्हें कमी किस वात की है, जो इच्छा होने पर भी, केवल दूर होने के कारण, तुम सती से न मिल सको? गाड़ी, घोडा, रथ, हाथी, विमान—जो कुछ चाहिए वह सव तुम्हारी सेवा में हाजिर है, फिर यह भी तो सोचो कि तुम हमेशा अपनी कन्या से मिलती रहो, यह ठीक है या उसे अच्छा वर मिले, यह ठीक है? माँ-वाप को तो इसी वात में सन्तुष्ट रहना चाहिए कि उनकी पुत्री सुखी रहे।"

नारदजी की यह वात राजा-रानी दोनो को पसन्द आई। दक्ष वोले—"यह तो ठीक है। पर वर की विद्या-वुद्धि कैसी है?"

नारद ने कहा—"विद्या-वुद्धि मे तो उनकी वरावरी करने वाला आज और कोई नही है। वेद, पुराण, तत्र आदि कोई भी शास्त्र या विद्या ऐसी नही जिसमे वह प्रवीण न हो। उनकी वुद्धि कितनी तीव्र है, इसका अनुमान तुम इसी से लगा सकते हो कि स्वय वशिष्ठ मुनि ने उनसे ऋग्, यजु तथा सामवेद का अध्ययन किया है, परशुराम ने धनुर्विद्या सीखी है और मैंने गान-विद्या का अभ्यास किया है।"

नारदजी की ये वाते सुनकर दक्ष का चेहरा खिल उठा। उन्होने कहा—"वर का वल-वीर्य कैसा है?"

नारद वोले—"वल का परिचय तो उनके धनुष से ही मिल सकता है। उसकी डोरी चढ़ाना तो दूर, दूसरा तो कोई उसे हिला-डुला भी नहीं सकता। इस धनुष से निकले हुए वाण से ही त्रिपुरासुर राक्षस की मृत्यु हुई थी।"

रानी ने पूछा—"उनका रूप-रंग कैसा है?"

नारद ने कहा—"उनके रूप-रंग का तो पूछना ही क्या? हृष्ट-पुष्ट लम्बा-चौड़ा शरीर है, घुटनों तक लम्वी भुजाएं हैं, विशाल नेत्र है, तेजस्वी गौर वर्ण है और मुख सदैव खिला रहता है।"

सती की सखी विजया किसी काम से रानी के पास आई थी। यहाँ सती के विवाह की वातें होते देख, सुनने की लालसा से, वहीं वैठ गई। नारद मुनि से वर की ऐसी प्रशंसा सुनकर उससे न रहा गया। वह तुरन्त दौड़ी हुई सती के पास गई और कहने लगी—"सती! अव तेरी मनोकामना पूरी होगी। इतने दिनों से तू जिनकी पूजा कर रही थी, उन्हीं कैलाश-पति के साथ तेरा विवाह करने की चर्चा नारदजी कर रहे हैं।"

सती कुछ न बोली। दोनों हाथ जोड़कर ऊपर को मुँह करके सर्वव्यापी परमेश्वर को उसने प्रणाम किया। इधर रानी ने नारद से फिर पूछा—"वर की धन-सम्पत्ति कैसी है?"

नारद ने कहा—"कैलाश तो रत्नों का एक अटूट भंडार है और स्वयं यक्षराज कुवेर उनके भंडारी है।"

रानी ने पूछा—"उनके माँ-वाप भाई-वहिन आदि को तुम जानते हो?"

नारद मुस्कराते हुए वोले—“वस, वर में केवल एक यही कमी है कि उनका अपना कोई सगा नहीं, पर रानी! तुम्हें तो इस वात से दुखी होने के वजाय प्रसन्न होना चाहिए। क्योंकि विवाह के वाद हमारी सती तुरन्त ही अपने घर की मालकिन वन जाएगी।”

नारदजी की यह वात रानी को जरा अखरी और उन्होंने नारद की ओर एक तीखी नजर डाली। नारदजी वोले—“रानी! वर के व्यवहार के वारे मे मुझे तुमसे दो एक वातें स्पष्ट कह देना आवश्यक है। फिर तुम उन्हे दोप समझो या गुण, यह तुम्हारी मर्जी। वाद मे तुम मुझे वुरा-भला कहो, इससे मैं पहले ही साफ-साफ कह देता हूँ। वर संसार के प्रति विलकुल उदासीन हैं। घर और श्मशान, चन्दन और चिता की भस्म, ये दोनों उसके लिए समान हैं। वह सदैव चिन्ता मग्न रहता है, परन्तु उसकी चिन्ता किसी पार्थिव वस्तु के लिए नही होती, वल्कि वह रात-दिन संसार के कल्याण की ही चिन्ता मे लगा रहता है। श्मशान मे मुर्दों की परीक्षा करने, जंगल मे वनस्पतियों के गुण-दोषों का विवेचन करने और कन्दराओ मे खनिज पदार्थों के तत्त्व-निरूपण करने, हलाहल विपपान करने अथवा विषैले साँपो को गले मे धारण करने से वह कभी नही हिचकता। यही कारण है कि गृहस्थ होते हुए भी वह सन्यासी है और राजा होते हुए भी भिखारी। अव जो कुछ तुम्हे ठीक जान पड़े, वह तुम जानो और करो।”

सव वात सुनकर दक्ष जरा गम्भीर हो गये। वह वार-वार शिव के सम्वन्ध मे विचार करने लगे। रानी वोली

"ठीक तो है, सभी गुण तो किसी मे हों भी कैसे ? माँ-वाप को तो यही चाहिए कि कन्या का विवाह किसी योग्य वर के साथ कर दे। हमे तो अपने इसी कर्त्तव्य की पूर्ति करनी चाहिए, पीछे यह जाने और जाने इसका भाग्य। वर जव रूप-गुण, धन-ऐश्वर्य, इन सब मे अपना सानी नहीं रखता, तव मेरी इच्छा तो उसी के साथ सती का विवाह करने की है।"

दक्ष ने कहा—"रानी ! जो तुम्हारी इच्छा है, विधाता भी उसीके अनुकूल जान पड़ता है। मुझे पहले से ही यह आशका थी की जैसी भोली-भाली यह छोकरी है, कहीं वर भी उसे वैसा भोला-भाला न मिल जाय। मेरी यह आशंका सच हुई। अव यदि तुम इस वर के साथ सती का विवाह करना ही चाहती हो, तो खुशी से करो, मुझे भी इसमें प्रसन्नता है।"

वात तय हो गयी। कैलाशपति के साथ सती का विवाह निश्चित हो गया। राजा दक्ष ठाटवाट से विवाह की तैयारी मे जुट गये।

शुभ दिन देखकर अन्त में सती का विवाह भी हो गया। राजमहल प्रकाश और उससे भी अधिक राजकुमारियों के उज्ज्वल मुखारविन्दो से जगमगाने लगा। वर के सम्वन्ध में नारद ने जो कुछ कहा था, वह सव सच निकला, परन्तु एक वात से राज-महिषी को कुछ क्षोभ हुआ। विवाह का अवसर! न वस्त्र, न आभूषण, न कोई सजधज। उन्हे ऐसा लगा कि वर वैभव शून्य है। उसके पास वधू को देने के लिए कुछ भी नहीं है। राजा दक्ष को भी वर के रंग-ढंग से संतोष नहीं हुआ। नगर-निवासी भी प्रसन्न नहीं थे। परन्तु सती मन में फूली नहीं समा रही थी।

रात-दिन सती जिनकी पूजा में लगी रहती थी उन्हीं शिव जी के साथ आज अपना प्रत्यक्ष पति-पत्नी सम्बन्ध होते देख उसके हृदय मे अगाध आनन्द हो रहा था। उसको किसी की आलोचना की चिन्ता नही थी। विवाह समाप्त होते ही वह अपने पति के साथ कैलासपुरी चली गई। कैलासपुरी मे सती के पहुँचने पर पुष्पों मे पहले से अधिक सौरभ प्रतीत होने लगा, पक्षी अधिक मधुर राग गाने लगे और सन्यासी कैलासपति सती के विवाह के बाद ससारी बन गये। सती भी धर्म और कर्म मे अपने पति की पूर्णत. अर्द्धाङ्गिनी बनी। इसी प्रकार आनन्दपूर्वक समय बीतने लगा।

एक समय की बात है, कैलाश मे पूर्ण वसन्त छा रहा था। लगातार बर्फ गिरते रहने के कारण पत्र-पुष्पहीन लताएँ ऋतु-राज वसन्त का ऐन्द्रजालिक स्पर्श पाकर पुन नवीन फूल-पत्तो से हरी हो रही थीं। पर्वत पर जगह-जगह सफेद, लाल. पीले भिन्न-भिन्न रंगो के फूल खिल रहे थे। पिघले हुए बर्फ से सैकडों झरने निकल रहे थे, जो कलकल नाद करते हुए रात-दिन नीचे की ओर बह रहे थे। घोर शीत के कारण जो पशु-पक्षी कैलाश से नीचे के गर्म प्रदेश मे चले गये थे, उनके वापस आ जाने से, अब फिर चहल-पहल हो गयी थी।

सायकाल का समय था। भगवान शकर अपने महल के बाहर एक शिला पर विराजमान थे। उनके बाईं ओर सती थी। कैलाशपति के शिर पर जटा थी, गले मे रुद्राक्ष की माला, शरीर पर विभूति और कमर पर व्याघ्र-चर्म। यही वेश सती का भी था। दोनों के सम्मुख हाथ में महान् त्रिशूल लिए नन्दी

खड़ा था। कैलासपति और सती में परस्पर जीव धारियों के सुख-दु.ख की चर्चा हो रही थी। उपवन के पशु-पक्षी और तरु-लता तक शान्त थे। पर अधिक समय तक यह शान्ति न रह सकी। दूर से वीणा की अत्यन्त मधुर ध्वनि सुनाई दी। कोई गायक सुन्दर गीत द्वारा कैलासपति और सती का गुणगान कर रहा था। सती के लिए यह स्वर नया न था। वह तो वचपन से ही इससे परिचित थी। कानों में भनक पड़ते ही उनका शरीर रोमांचित हो उठा। हर्ष से गद्‌गद होकर उन्होंने कैलासपति से कहा—"स्वामी! यह तो देवर्षि नारद यहाँ आ रहे है। यह स्वर तो उनके सिवा और किसी का नहीं हो सकता।"

कुछ ही देर में दिव्यमूर्ति नारदजी स्वयं वहाँ आ पहुँचे। आपस मे यथायोग्य नमस्कार और आदर-सत्कार की वाते हो जाने पर, देवर्षि नारद को एक शिला पर वैठाकर सती ने पूछा—"देवर्षि! कनखल के क्या हाल-चाल है? पिता, माता आदि सव आनन्द से तो है न?"

नारद ने कहा—"सव कुशल है। तुम्हारे माता-पिता, वहनें आदि सव अच्छी तरह है।"

सती वोलीं—"इतने दिन हो जाने पर भी पिताजी ने मेरी सुध क्यों नहीं ली?"

नारद ने कहा—"तुम्हारे पिता इन दिनों काम मे व्यस्त है। आजकल वह एक वड़े भारी यज्ञ की तैयारी में लगे हुए है। भारत भर के अमीर-गरीव, पण्डित और मूर्ख सभी को उन्होंने इस यज्ञ मे आमंत्रित किया है। इसलिए उन्हें तुम्हारे

हाल-चाल पूछने तक की फुरसत नहीं मिली होगी।"

सती ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—"देवर्षि! क्या आप पिताजी की आज्ञा से मुझे उस यज्ञ मे लिवा ले जाने के लिए ही तो नहीं आये है?"

नारद बोले—"नहीं, तुम्हारे माता-पिता को तो मेरे यहाँ आने की खबर भी नहीं। मै तो इधर हो कर जा रहा था, तुम्हे देखे बहुत दिन हो गये थे, इसलिए साधारण तौर पर तुमसे मिलने ही के लिए चला आया हूँ।"

सती ने चिन्ता से कहा—"पिताजी ने यज्ञ के लिए इतनी अधिक तैयारियाँ की है, पर मुझे निमन्त्रण नहीं भेजा!"

नारद बोले—"इसका मै क्या जवाब दूं? तुम्हारे पिता की मति मारी गई है। जैसा मैने सुना है उसके अनुसार तो वह तुम्हें बुलाएंगे भी नहीं।"

नारद की बात सुनकर सती आश्चर्य में पड़ गयीं। उनका गला भर आया और शोकातुर होकर वह पूछने लगीं—"देवर्षि! यह क्यो? हमने ऐसा क्या अपराध किया है?"

नारद ने कहा—"सुना है कि कैलासपति के व्यवहार से वह नाराज हुए है। उनका ऐसा ख्याल है कि कैलासपति ने उनका अपमान किया है। उस अपमान का बदला लेने के लिए ही उन्होंने इस यज्ञ मे तुम्हें और कैलासपति को निमन्त्रण नहीं भेजा।"

सती बोलीं—"क्या माताजी को यह मालूम है?"

नारद ने कहा—"हाँ, वह भी जानती है। उन्होंने राजा दक्ष को बहुत समझाया भी, पर दक्ष ने किसी का कहना नहीं

माना। इसी वात से खिन्न होकर रानी ने खाना-पीना छोड़ दिया है। पर इन वातों की चर्चा से अव क्या लाभ ? मुझे और भी काम हैं। अव मैं चलता हूँ।" इतना कहकर नारद चले गये। तव सती ने नम्रता के साथ कैलासपति से पूछा—"स्वामी ! पिताजी को आपका व्यवहार वुरा लगा, इसका क्या मतलव ?"

कैलासपति ने कहा—"देवी ! मैंने उनका कोई अपमान नहीं किया। किसी का अपमान करने का मेरा स्वभाव नहीं है। असल वात तो यह है कि कुछ दिन पहले देवताओं के साथ मैं भी एक सभा में गया था। वहाँ प्रजापति के आने पर और देवताओं ने उनकी जैसी आवभगत की वैसी मैं न कर सका। इसी वात पर, सुना है, वह मुझसे वहुत वुरा मान गये और मेरा अपमान करने की चिन्ता में हैं। तुम्हें यह सुनकर दु.ख होता, इसी से मैंने आज तक तुमसे इसकी चर्चा नहीं की।"

सती ने कहा—"स्वामी ! मेरी एक प्रार्थना है। यदि आप आज्ञा दें तो मै एक वार कनखल हो आऊँ। मै वहाँ जाऊँगी तो पिताजी को सव वातें समझाकर उन्हें मना लूँगी।"

कैलासपति ने चिन्ता से कहा—"देवी ! और किसी समय अगर तुमने जाने का विचार किया होता तो कोई वात न थी। परन्तु यज्ञ के अवसर पर यदि तुम वहाँ जाओगी तो निश्चय ही सवके सामने वह तुम्हारा अपमान कर वैठेंगे।"

सती वोलीं—"भला मेरा अपमान वह क्यों करने लगे ? मैंने तो उनका अपमान कभी नहीं किया।"

कैलासपति ने कहा—"सती ! तुम तो भोली हो। तुम

प्रजापति को नहीं पहचानती। वह ऐसे है कि अपने अभिमान मे जो चाहे कर सकते है। जब उन्होने मेरा अपमान करने की ठान ली है तो मेरे बदले तुम्हारा अपमान करने मे वह जरा भी सकोच नहीं करेगे। वास्तव में मेरा अपमान करने के लिए ही यह यज्ञ रचा गया है। ऐसी दशा मे बिना बुलाए यज्ञ मे जाना तुम्हे शोभा नही देता।"

सती ने कहा—"स्वामी! भला मैं आपको क्या समझाऊ? पर लडकी को पिता के घर जाने के लिए निमन्त्रण की क्या आवश्यकता है। फिर नारदजी ने जो कहा, वह क्या आपने नही सुना? मेरे लिए माताजी ने अन्न-जल त्याग दिया है, यह जान कर भी अपमान के ख्याल से अगर मै माता की सेवा करने न जाऊ तो क्या ठीक होगा?"

कैलासपति बोले—"इस बारे मे अधिक वाद-विवाद की क्या जरूरत है। जब तुम जाना ही चाहती हो तो खुशी से जाओ। पर इतना ख्याल रखना कि जो कुछ करना वह समय को देखकर ही करना। मुझे तो भारी शंका है कि इस यज्ञ का परिणाम तुम्हारे, मेरे तथा प्रजापति दक्ष—तीनो के लिए अच्छा न होगा।"

नन्दी ने यथासमय कनखल जाने की तैयारियाँ कर दीं। किन्तु मायके जाते समय सती ने कोई विशेष शृगार नहीं किया। उनके हाथ में त्रिशूल था, गले मे स्फटिक की माला थी, हाथ मे रुद्राक्ष के दाने थे, शरीर पर भस्म का लेप था, ललाट पर भस्म का तिलक था, कमर तक लहराते हुए खुले बाल थे और वस्त्र गरुए थे। जिन कनखलवासियो ने बचपन मे

उन्हे देखा था, अव उनके पूरे यौवन से प्रफुल्लित सौन्दर्य को देखकर वे चकित हो गये और झुक-झुककर उसे प्रणाम करने लगे। पर सती किसी से कुछ न बोलीं। वह तो सीधी राज-महल की उस कोठरी में पहुँची, जहाँ उनकी माता अन्न-जल त्याग भूमि पर पड़ी-पड़ी रोया करती थीं। माता को शोकग्रस्त देखकर वह बोली—"माँ! मै आई हूँ।"

सती के शब्द रानी के कानों में संजीवनी के समान पहुँचे। वह तुरन्त उठ खड़ी हुई और सती को छाती से लगाकर बोलीं—"बेटी! तू आ गई?" और यह कहकर बार-बार वह सती का चुम्बन करने लगी। दोनों के नेत्रों से प्रेमाश्रु-धारा वह निकली। अंत में सती बोलीं—'माँ! मै एकवार पिताजी से मिलना चाहती हूँ। इसीके लिए मै यहाँ आई हूँ।" रानी ने कहा—"ना वेटी! महाराज अभी यज्ञ-सभा में हैं। इस समय वहाँ जाने की आवश्यकता नहीं है।"

पर सती कब माननेवाली थीं। यह कहती हुई कि "माँ, मैंने वहुत दिनों से पिताजी को नहीं देखा है, जरा खड़ी-खड़ी उनसे मिल तो आऊ," रानी के उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही दौड़ती हुई वह यज्ञ-सभा में जा पहुंची।

यज्ञ-मण्डप राजमहल के सामने वाले विशाल मैदान में वनाया गया था। अनेक देशों के साधु-संन्यासी और दर्शक उसमें वैठे थे। राजा दक्ष का ऐश्वर्य असीम था। कोई भी व्यवस्था शेष नहीं थी। ऊपर भगवे रंग का चन्दोवा था, नीचे यज्ञ की वेदी, और वेदी के असपास हवन करनेवाले ऋत्विज कुण्डलाकार वैठे हुए थे, जिनके वीचोवीच प्रजापति दक्ष विराजमान थे।

हवन का पवित्र धुआँ चारों ओर फैल रहा था। अग्नि में आहु-तियाँ पड़ रही थीं और उनसे प्रज्ज्वलित अग्नि के ताप से राजा दक्ष का मुख तपकर लाल हो रहा था। इसी समय सती वहाँ पहुंची। सती को देखते ही वहाँ वैठे हुए लोगों ने सम्मान के साथ उनके लिए रास्ता छोड़ दिया। सती सीधी यज्ञवेदी के पास चली गईं और वहाँ पहुंचकर उन्होंने पिता को साष्टांग नमस्कार किया। क्षणभर के लिए ऋत्विजों के मुँह मन्द हो गये, वेदमन्त्रों की ध्वनि रुक गई और होताओं ने आहुति के लिए जो हाथ वढ़ाये थे वे जहाँ-के-तहाँ रह गये। दक्ष ने इसका कारण जानने के लिए जो आँख उठाकर देखा तो सामने हाथ जोड़े सती को खड़े पाया। सती को देखते ही उनका चेहरा खिल उठा। स्नेह से गद्गद होकर उन्होंने पूछा—"सती ! तू आ गई ?"

परन्तु दूसरे ही क्षण दक्ष का भाव वदल गया। उनकी आँखें चढ़ गईं। अग्नि के ताप से तपा हुआ मुख अव अस्त होते हुए सूर्य की भाँति लाल हो गया। स्वर कठोर हो गया। कर्कश स्वर मे वह वोले—"सती ! तू यहाँ क्यों आई ?"

सती ने अपने जीवन में पिता के मुँह से कभी ऐसे शब्द नहीं सुने थे। इसलिए विषैले वाण की तरह ये शब्द उसके हृदय मे चुभ गये। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधारा वह निकली। पर किसी तरह अपने आँसुओं को रोक कर वह वोली—"पिता जी ! वहुत दिनों से मैं आपसे मिली नहीं थी, इसी से आपसे मिलने के लिए आई हूँ।"

सती के करुण स्वर से यज्ञ मे उपस्थित सव लोगों के हृदय द्रवीभूत हो गये, पर दक्ष पर इसका कोई असर न हुआ। वह तो

पहले की तरह ही कठोर-स्वर से वोले—"तुझसे क्या किसी ने आने को कहा था जो तू चली आई ? मैंने तो तुझे निमन्त्रण भी नहीं भेजा था।"

सती ने नम्रता से कहा—"पिताजी ! सन्तान को माता-पिता से मिलने के लिए निमन्त्रण या वुलावे की आवश्यकता नही होती। मैं तो विना निमन्त्रण ही आई हूं।"

दक्ष वोले—"सती ! प्रजापति दक्ष की कन्या के लिए ऐसा वहाना शोभा नहीं देता। ये शव्द तो उस निर्लज्ज की पत्नी के ही योग्य हैं, जिसके साथ विधाता ने तेरा पल्ला वॉधा है।"

सती गंभीर स्वर मे वोलीं—"पिताजी ! आप विना किसी कारण उन्हें क्यों गाली देते है ?"

वह निर्लज्ज हों या पागल, मेरे तो वही देवता है। आप उनकी निन्दा न कीजिए।

यदि हमसे कोई अपराध हुआ है तो हमें वताइए मैं उसका प्रायश्चित्त करुँगी ?"

दक्ष वोले—"प्रायश्चित्त तो है, पर वह तेरी मृत्यु से ही होगा। जिस दिन मैं तेरी मृत्यु का समाचार सुन लूँगा उसी दिन से उस अधम के साथ मेरा जो सम्वन्ध है उससे मुक्त हो जाऊँगा और सम्वन्ध छूट जाने पर फिर उसके साथ मुझे कोई राग-द्वेष भी नही रहेगा।"

सती ने कहा—"अच्छा। यदि आपकी ऐसी ही इच्छा है तो यही सही। यदि मेरी मृत्यु से ही आपका वैर-भाव मिटता हो तो मैं प्रसन्नतापूर्वक आपकी आज्ञा का पालन करुँगी।"

इतना कहकर सती यज्ञ-कुण्ड के पास ही योगासन लगाकर वैठ गई। एकचित्त होकर सिर से पैरो तक अपने तमाम शरीर को उन्होने गेरुए वस्त्र से ढक लिया। थोड़ी देर मे सती के सुन्दर शरीर से एक अपूर्व आभा निकली जिसके प्रकाश के सामने हवन-कुण्ड की अग्नि निस्तेज प्रतीत होने लगी। यह आभा सती के ब्रह्माण्ड से निकलती हुई उसकी आत्मा रूपी दिव्य-ज्योति के साथ मिलकर अनन्त आकाश मे विलीन हो गई।

इसके वाद हुआ दक्ष का विनाश। माता की हत्या करने वाले को पुत्र जिस दुर्दशा के साथ मार डालता है, उसी प्रकार कैलासपति के गणो ने आकर दक्ष का संहार कर डाला। मणि-मुक्तादि से सज्जित दक्ष के सुन्दर राजमहल को उन्होंने नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। कनखल की शोभा समाप्त हो गयी।

और भगवान शंकर! वह वेल के वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न वैठे थे। ध्यानावस्थित होने के कारण इस समय संसार के सुख-दु.ख की उन्हे किञ्चित परवाह न थी। इतने में उनके पांव से ब्रह्मा के कमण्डल और विष्णु के सुदर्शन चक्र का स्पर्श हुआ, जिससे उनका ध्यान भंग हो गया। आँख खोलते ही उन्होंने एक क्षण मे दक्ष की स्थिति का पता लगा लिया। सामने ब्रह्मा और विष्णु खड़े थे। उनके साथ भोलानाथ सती की हालत देखने के लिए यज्ञशाला मे पहुंचे। उस समय यज्ञ-मण्डप युद्धभूमि-सरीखा भयंकर प्रतीत हो रहा था। दक्ष का मृत शरीर एक ओर पड़ा था। ऋषि वेहोश थे, हवन-कुण्ड से रक्त के जलने की दुर्गन्धि आ रही थी और अन्त.पुर में हाहा-कार मच रहा था। नन्दी 'माँ'-'माँ' कहता हुआ चिल्ला-चिल्ला-

कर रो रहा था। वेदी से कुछ दूर पृथ्वी पर पड़ा सती का शरीर था। महादेवजी ने अपने तीनों नेत्र फाड़कर उसे देखा, पर उन्हें किसी प्रकार का रोष न हुआ। यज्ञभूमि में जो घायल पड़े हुए थे, उनके वरदान से वे उठ खड़े हुए। दम्भी दक्ष का मस्तक बकरे का कर दिया गया। विष्णु ने यज्ञ पूरा किया और उसका शेष भाग महादेवजी को अर्पण कर उन्हें सन्तुष्ट किया।

महादेवजी ने सती का पवित्र शरीर अपनी गोद मे उठा लिया और उनके ऐंठे हुए दोनों हाथों को अपने गले में डालकर, उसे लिये-लिये पर्वतों की गुफाओं में घूमने लगे। मृत शरीर के स्पर्श से ही वह अपना विरह-दु:ख भूल गये। वह पागल-से हो गये। उनकी ऐसी दशा देखकर देवता घबरा गये। अन्त मे विष्णु ने सब देवताओं की एक सभा की और तीर-कमान से सती को ऐसा बेध डाला कि उसके सैकड़ों टुकड़े हो गये। कहा जाता है कि ये टुकड़े भारत के १० स्थानों पर गिरे और जहाँ-जहाँ ये गिरे वहाँ-वहाँ देवी-पीठ की स्थापना हुई। कहते है उसी दिन से भारतवर्ष मे पतिव्रत-धर्म की प्रतिष्ठा हुई और तभी से जो स्त्री पति-प्रेम से विह्वल होकर अपना प्राण छोड़ती है वह 'सती' मानी जाती है।

: ३ :

मां का हृदय

महारानी कौशल्या कोशल देश के राजा की पुत्री और अयोध्या के महाराज दशरथ की पटरानी थीं। थीं तो वह पटरानी, पर उन्हे राजभवन में उचित सम्मान नहीं मिला। राजभवन मे यदि किसी का सम्मान था तो वह थी कैकेयी। कैकेयी ने राजा दशरथ को अपने अपूर्व लावण्य से अपने वश में कर लिया था। इसलिए उसकी सब जगह तूती बोलती थी। माता कौशल्या और माता सुमित्रा की उसके सामने कुछ भी नहीं चलती थी। नौकर-चाकर सब कैकेयी के ही संकेत पर नाचते थे। कैकेयी 'सौतिया डाह' की प्रतिमूर्ति थी। वह राजा दशरथ को ही नहीं, सेवक और सेविकाओं को भी अपनी दोनों सौतो के विरुद्ध भड़काया करती थी। इन सब बातों से माता कौशल्या को राजभवन मे रहते हुए कभी चैन नहीं मिला। उन्होंने कभी पति का सुख नही उठाया।

परन्तु इस दुःख मे भी उन्हें यदि किसी से सुख प्राप्त था तो वह थे उनके पुत्र राम। यह सुख भी उन्हे सहज ही नहीं मिल गया था। पुत्र के लिए उन्होंने बड़ी तपस्या की थी और अनेक शारीरिक कष्ट सहे थे। रामायण के आदिकाण्ड से मालूम होता है कि पुत्र-प्राप्ति के लिए एक बार सारी रात

उन्होंने इष्टदेव की सेवा में जागते हुए ही विता दी थी। रात-दिन तप और उपवास में रहने वाली इस विदुषी का स्वभाव शान्त, नम्र, मधुर और कोमल था। वहन की भाँति वर्त्ताव रखकर नादान कैकेयी की निष्ठुरता को उन्होंने वहुत-कुछ दूर कर दिया था। क्षमाशीला तो वह इतनी थीं कि उन्होने कैकेयी के अनेक अत्याचारों को झेलकर भी कभी उनकी चर्चा दूसरों से नहीं की। इससे वड़ी वात तो यह थी कि स्वामी के ऊपर कैकेयी ने जो एकाधिपत्य कर रखा था उसे भी चुपचाप वरदाश्त करके कैकेयी के प्रति उन्होंने छोटी वहन जैसा ही प्रेम रखा था। उनका सारा समय पूजा-पाठ और व्रत-उपवास में ही व्यतीत होता था।

कौशल्या आदर्श माता थीं। उनमें मातृत्व की भावना ही प्रधान थी। भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न पर भी उनका उतना ही स्नेह था जितना उनका अपने राम पर। उन्हे कैकेयी और सुमित्रा के पुत्रों में राम के ही दर्शन होते थे। यही उनका मातृत्व था, यही उनके वात्सल्य की चरम सीमा थी। उनके पुत्र राम में भी इसी गुण की प्रतिष्ठा हुई थी।

राजा दशरथ राम को वहुत चाहते थे। माता कौशल्या के लिए एक यही वड़े सौभाग्य की वात थी। रामचन्द्र मे दूसरे वहुत से गुण होने पर भी वह उनके इसी गुण को सवसे वढ़कर समझती थीं कि उनके पिता उन्हें चाहने लगे है। राजा दशरथ का प्रेम प्राप्त करना कितना अलभ्य था, इसका अनुभव कौशल्या अपनी जन्म भर की तपस्या से कर चुकी थीं, अस्तु, वही इसका पूरा मूल्य जान सकती थी। उनमे सामंजस्य वुद्धि

वहुत थी। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति को ठोंक-पीटकर वह अपने आचरण के अनुकूल शीघ्र ही बना लेती थी। उनमें मातृत्व की भावना ही नहीं, आत्म-सम्मान की भी भावना वडी प्रवल थी। वह अपने पद की मर्यादा को भली-भाँति समझती थीं। हठ करना तो वह जानती ही नहीं थीं। उनके जीवन की सवसे वड़ी सफलता थी राम का राज्याभिषेक। अन्य लोगों की भाँति उन्हें भी राज्याभिषेक में सम्मिलित होने का निमन्त्रण मिला। वह राम की माता थीं। उनसे अधिक प्रसन्नता किसी को भी नहीं हो सकती थी, पर इस निमन्त्रण को पाकर भी वह उदासीन ही रही।

राज्याभिषेक का अवसर आया। कैकेयी की सहनशीलता मर्यादा का उल्लघन कर गयी। कौशल्या के पुत्र का राज्याभिषेक! यह हो नहीं सकता और राज्याभिषेक का सारा शृङ्गार थोड़ी ही देर में भस्मीभूत हो गया। रामचन्द्र को चौदह वरस का वनवास! राम ने सिर नीचा करके पिता की आज्ञा मान ली और माता से अन्तिम विदा लेने के लिए उनके अन्तःपुर में गये। पुत्र-वत्सला कौशल्या सारी रात जागरण करके प्रातःकाल पुत्र के कल्याण के लिए विष्णु-पूजा कर रही थी। उस समय वह सादे कपड़े पहने हुए थी और मङ्गलाचरण करके हवन करने में निमग्न थीं। जिस समय राम ने प्रवेश किया, वह अग्नि में आहुतियाँ दे रही थीं। सहसा उनकी आँखे ऊपर उठीं। राम हाथ जोड़े सामने खड़े थे। कौशल्या ने आलिंगन करके उनका मस्तक सूँघा और आशीर्वाद देकर आसन पर वैठाते हुए भोजन के लिए आग्रह किया। रामचन्द्र अपने प्रति

उनका मोह देखकर असमंजस मे पड़ गये, पर उन्हें तो वन जाना ही था। इसलिए उन्होंने कहा—"मै तो दण्डकारण्य जाता हूँ। मै आज से वनवासी हूँ। ऐसी दशा मे यह आसन कैसे स्वीकार करूँ? मेरा तो कुशासन पर वैठने का समय आ गया है। अव तो मुझे मुनियों की तरह कन्दमूल और फल-फूल खाकर चौदह वर्ष तक वन में रहना होगा। महाराज मुझे निर्वासित करके भरत को राजसिहासन पर विठाना चाहते है। इसलिए अव तो मै आपसे विदा लेने आया हूँ।"

राजभवन में इतनी भयंकर आँधी आयी, पर माता कौशल्या को उसका एक भी झोंका नहीं लगा। वह जान ही नहीं पाई कि राम को वनवास की आज्ञा किसने और क्यों दी? यह तो राम थे जिन्होंने उन्हे सवसे पहले अपने वन-गमन की सूचना दी। उस सूचना को पाते ही वह धर्म-संकट मे पड़ गईं। धर्म और स्नेह दोनों ने उनकी वुद्धि को घेर लिया। इस समय उनकी हालत साँप-छछून्दर की-सी हो गयी। वह सोचने लगीं कि यदि आग्रह करके पुत्र को रखती हूँ तो धर्म जाता है और भाइयो के साथ पुत्र की शत्रुता होती है और यदि वन जाने के लिए कहती हूँ तो भी वड़ा अनर्थ होता है। इधर खाईं उधर पर्वत, अन्त मे धर्म की विजय हुई। कौशल्या ने धैर्यपूर्वक कहा—"वेटा! जाओ। तुम्हारी अला-वला मै अपने ऊपर लेती हूँ। तुमने जो सोचा है, वह ठीक ही है। पिता की आज्ञा का पालन करना ही सवसे वड़ा धर्म है। वेटा! तुम्हें राज देने के लिए कहा था, पर दिया गया वन; इसकी मुझे चिन्ता नहीं। मुझे तो केवल इसी वात का दु:ख है कि तुम्हारे विना भरत, महाराज और अयोध्या की सारी

प्रजा को बड़ा दु.ख होगा। इसलिए बेटा ! यदि अकेले पिता ने ही वन जाने की आज्ञा दी हो, माता ने नहीं, तो माता को पिता से बड़ी मानकर तुम वन मत जाओ। पर यदि माता-पिता दोनों ने आज्ञा दी हो तो तुम्हारे लिए वन भी अयोध्या जैसा ही है। राजाओं को अपनी अन्तिम अवस्था मे वनवास करना चाहिए, पर तुम्हारी तो अभी प्रथमावस्था ही है, इससे मेरा जी घबराता है। फिर भी मुझे विश्वास है कि तुम जिस जंगल में जाओगे वह जंगल भाग्यवान होगा और यह अयोध्या तुम्हारे न रहने से भाग्यहीन बन जायगी। इतना समझते हुए भी झूठा स्नेह बढ़ाकर मैं तुम्हे रहने का आग्रह नही करती। मै तुम्हे वन जाने के लिए सहर्ष विदा करती हूँ और वन में सुखपूर्वक रहने का आशीर्वाद देती हूँ।"

वन जाने से पूर्व राम को सीता से भी मिलना था। अपने आस-पास हाहाकार सुनकर वह कौशल्या के पास आ पहुँची। राम ठिठक गये। सीता के हृदय में जो उथल-पुथल थी उसका आभास उन्हें मिल गया। उन्हें भी तो राम के साथ वन जाना था। उनका हठ देखकर कौशल्या का जी भर आया, पर वह उनके मार्ग की रोड़ा नहीं बनीं। राम ने सोच-विचार के पश्चात् उन्हे अपने साथ ले जाना ही उचित समझा। राम और सीता वन में रहे और लक्ष्मण राजभवन मे ! यह हो नहीं सकता। वह भी तैयार हो गये। चलते समय माता कौशल्या ने सीता को आशीर्वाद देते हुए कहा—"जब तक गंगा और यमुना मे जल है, तब तक तुम्हारा सौभाग्य भी अचल रहे। बेटी! तुम बड़ी समझदार और सयानी हो, तुम्हें अधिक शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं, तुम केवल

इतना ही याद रखना कि पतिव्रता स्त्रियाँ अपने पति को देवता के समान मानती हैं। वे निरन्तर अपने शील की रक्षा करती है, सच बोलती है और गुरुजनों के उपदेशानुसार व्यवहार करती है। वे अपने कुल की मर्यादा का कभी उल्लंघन नहीं करती। पुत्री ! मेरा राम इस समय दरिद्र दशा मे है, फिर भी तुम्हारे लिए पूज्य है। उसकी अवज्ञा कभी भी न करना। अच्छा अब जाओ और जहाँ रहो, वहाँ परमात्मा तुम्हे सुखी रखे।"

कौशल्या का आशीर्वाद पाकर राम, लक्ष्मण और सीता वन की ओर चल दिये। इसी समय पुत्र-विरह से व्याकुल हो, रानी कैकेयी का अत्यन्त तिरस्कार करके, महाराज दशरथ रानी कौशल्या के अन्त.पुर मे पहुँचे। उन्हें देख रानी कौशल्या का पुत्र-वियोग का दुःख उमड़ आया और वह रोते-रोते कहने लगीं—

"स्वामी ! तीनों लोकों मे दयालु, दानशील और प्रियवादी के रूप में तुम्हारी बड़ी कीर्ति है। मनुष्यों में तुम श्रेष्ठ हो। फिर तुमने पुत्र-वधू सीता सहित अपने पुत्र को वनवास कैसे दिया ? सीता अभी बच्ची है, वह तो हमेशा सुख और वैभव ही भोगने के योग्य थी। कोमल शरीरवाली इस जनक-नन्दिनी जानकी से जंगल के कष्ट कैसे सहे जायंगे ? वृद्ध-जनों की सलाह किये बिना ही आपने यह क्या कर डाला है ? कैकेयी के कहने में आकर बिना सोचे-विचारे ही आपने राम, लक्ष्मण और जानकी को वनवासी बना दिया है। प्राणनाथ ! इस प्रकार धर्म की उपेक्षा करके आपने मुझे भी निराधार कर दिया है। क्योंकि शास्त्रों मे स्त्री के लिए तीन ही गतियाँ बताई है—पति, पुत्र और जाति।

इनके सिवा चौथी कोई गति नहीं है। इनमे पहली गति तो आप है ही, जो कैकेयी के वश में होने से मेरे नहीं रहे, दूसरी गति में राम को आपने जंगल में भेज दिया है, रही तीसरी गति सो जाति के सगे-सम्वन्धी यहाँ मेरे है ही नही। अतः सव तरह से आपने मुझे निराधार कर दिया है।"

शोकाकुल कौशल्या के उपालम्भ को सुनकर महाराज दशरथ के हाथ-पाँव फूल गए। उन्हे वडा पछतावा होने लगा। अपने मन मे लज्जित होकर हाथ जोड़ते हुए वह वोले—"कौशल्या! अपने निर्णय से मुझे वहुत दुःख है। तू उदार है। अच्छे और वुरे को भलीभाँति समझती है। तू धर्मपरायण है—यह भी मै जानता हूँ। दूसरे के प्रति तूने सदैव दया और स्नेह की दृष्टि से देखा है। फिर मै तो तेरा पति ही हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरे इस निर्णय से तुझे वड़ा धक्का लगा है, फिर भी मैं तुझसे प्रेम पाने की ही आशा रखता हूं।"

कौशल्या जैसी सती को, पति की ऐसी दीन और करुणापूर्ण वात सुनकर, पिघलते देर नही लगी। टूटे-फूटे छाजन मे से जैसे वरसात का पानी चू पड़ता है, उसी प्रकार उनकी आँखों से टपाटप आँसू गिरने लगे। स्वामी के जोडे हुए हाथों को प्रेम और भक्ति के साथ अपने सिर पर रखकर गद्गद्-स्वर से वह वोली—"देव! आपके लिए मुझसे क्षमा माँगना उचित नहीं है। इस लोक और परलोक दोनों में स्त्री के लिए स्वामी ही सव कुछ है। स्वामी! मै नारी-धर्म को जानती हूँ, साथ ही मै यह भी जानती हूँ कि आप सत्यवादी है, मेरे मुँह से अभी जो अनुचित वातें निकल पड़ी है उनका कारण केवल

पुत्र-शोक है। शोक से धैर्य और ज्ञान का नाश हो जाता है। ऐसी दशा में मैं आपसे अपने अनुचित व्यवहार के लिए क्षमा माँगती हूँ।"

रानी कौशल्या के इस प्रकार क्षमा माँगने से राजा दशरथ के हृदय को कुछ शान्ति मिली और स्वस्थचित्त होकर वह सो गये। उस समय से उन्होंने अपना अन्तिम समय कौशल्या के महल में ही बिताया।

राजा दशरथ पर राम के वियोग का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। राम के बिना जीना उनके लिए दूभर था। अन्त में उन्होंने शरीर त्याग दिया। रात को जिस समय उनकी मृत्यु हुई, उस समय कौशल्या को नींद आ गई थी। इससे उसी समय उन्हें पति के मरने का पता न चला। प्रातःकाल जब उन्हें इस शोक समाचार का पता लगा तब वह अचेत होकर भूमि पर गिर पड़ीं। इसी समय और रानियाँ भी वहाँ आ पहुंचीं। मूर्छा भंग होते ही कौशल्या ने स्वामी का सिर अपनी गोद में ले लिया और हृदय-विदारक विलाप करने लगीं। भरत नहीं थे। दाह-क्रिया कौन करे? शव सुरक्षित रखा गया। कुछ दिनों बाद भरतजी भी अपने ननिहाल से आ गये। अभी तक जो कुछ हुआ, उसकी उन्हें कुछ भी खबर नहीं थी। भरत को देखते ही कौशल्या का जी और भी भर आया। उन्हें अपनी गोद में बैठाकर वह जोर-जोर से रोने लगीं। भरत भी बहुत दुःखी हुए। पिता का श्राद्ध-संस्कार कर जब वह अयोध्यावासियों को साथ लेकर राम को लौटाने के लिए गये, तब कौशल्या भी उनके साथ ही थीं। शृङ्गवेरपुरी में जिस

स्थान पर रामचन्द्रजी घास के विछौने पर सोये थे उसे देखकर जव भरत वेहोश हो गये, तव कौशल्या ने ही उनकी शुश्रूपा की थी और प्रेम के साथ पूछा था—"वेटा! तुम्हे कोई वीमारी तो नहीं है? राम तो लक्ष्मण को लेकर वन मे चले गये, अव तो तुम्हारा ही मुँह देखकर मै जी रही हूँ।"

चित्रकूट पर्वत पर रामचन्द्रजी के साथ जव उनका मिलाप हुआ, तव सीता को देखकर उन्होने वहुत विलाप किया था। चित्रकूट से आगे वह नहीं गयीं। भरत के साथ ही वह अयोध्या लौट आईं। उन्होंने चौदह वर्प अपने हृदय पर पत्थर रखकर काट दिये। संतोप और धैर्य की वह मूर्त्ति थीं। उन्होंने कभी आह तक नहीं की। राम के रूप में उन्होंने भरत से सान्त्वना और सतोप प्राप्त किया। चौदह वर्प पश्चात् राम, सीता और लक्ष्मण जव वन से लौट कर अयोध्या आये तव उन्हे जो प्रसन्नता हुई वह कल्पनातीत है। उस समय वह अपना सव कुछ भूल गयी।

कौशल्या का जीवन आदर्श जीवन था। पति से सदैव तिरस्कृत होनें पर भी उन्होंने स्वप्न मे भी कभी उनकी उपेक्षा नहीं की। त्याग और प्रेम की तो वह जीवित प्रतिमा थीं। उनका न तो किसी से वैर था और न मित्रता। वह अपने जीवन मे सदैव सम रहीं। सुख और दु:ख जीवन की दोनों परिस्थितियों मे वह वरावर एक सी रहीं। वह आदर्श माता, आदर्श पत्नी, आदर्श नारी थीं। आज हम भारत के प्रत्येक परिवार मे उन्हीं का रूप देखना चाहते है। कह नहीं सकते भारत मे वह शुभ दिन कव आएगा। आएगा अवश्य और तव हम अपने परिवार और अपने राष्ट्र में राम-राज्य का सुख लूट सकेंगे।

: ४ :

सत्य की परीक्षा

विहार प्रान्त का उत्तरी भाग, जिसे आजकल तिरहुत कहते हैं, प्राचीनकाल में मिथिला के नाम से प्रसिद्ध था। त्रेतायुग में वहाँ जनक नामक एक वड़े वीर, धीर, गम्भीर और प्रतापी राजा का राज्य था। उनके सुन्दर और न्यायपूर्ण शासन में समस्त प्रजा संतुष्ट थी। दु.ख कहीं भी न था। चारों ओर सुख, समृद्धि और आनन्द फैल रहा था। राजा जनक शास्त्रों के ज्ञाता, धर्म के रहस्यों से अभिज्ञ और इहलोक तथा परलोक के गूढ़ तत्त्वों को जानने वाले थे। राजा होते हुए भी वह महर्पि थे और गृहस्थ होते हुए भी वह पूरे वैरागी। विपय-वासनाओं से वह उदासीन थे। संसार के सव कामों को वह कर्त्तव्य समझ कर करते थे। इसी से लोग उन्हें राजर्पि कहते थे। वड़े-वड़े ऋषि-मुनि और पण्डित धर्मशास्त्र की चर्चा करने के लिए उनकी राज-सभा में जाते थे और उनसे कुछ सीखकर ही लौटते थे।

दैवयोग से ऐसे न्यायी राजा के राज्य मे भी एक वार भारी अकाल पड़ा। प्रजा की दुर्दशा देखकर राजा वड़े दु.खी हुए। उस समय लोगों का ऐसा विश्वास था कि प्रजा पर ऐसे संकट राजा के पाप के कारण ही आया करते हैं। यद्यपि राजा

जनक में ऐसा कोई दोप न था तथापि इस सम्वन्ध में ऋषि-मुनियो की सलाह ली गयी और यह मान कर कि यह अकाल राजा के किसी पूर्वजन्म का ही फल है, उसके निवारण के लिए एक वड़ा भारी यज्ञ होना आरंभ हुआ।

यज्ञ समाप्त हो गया और ऋषियो की सलाह से राजा जनक स्वयं सोने का हल लेकर खेत जोतने के लिए तैयार हुए। इस प्रकार प्रजा के हित के लिए मान-अपमान, यहाँ तक कि अपनी मर्यादा, को भूलकर राजा जनक एक साधारण किसान का काम करने लगे। उनके इस प्रजा-प्रेम को देखकर प्रजा के मन में उनके प्रति अपूर्व श्रद्धा उत्पन्न हुई। कुछ ही देर मे आसमान मे वादल घिरने लगे और किसानों के शरीर मे संजीवनी-शक्ति फैल गयी।

खेत जोतकर राजा जनक राजभवन की ओर आ ही रहे थे कि मार्ग मे उन्हें एक सुन्दर वालिका मिली। वह एक खेत मे पड़ी हुई थी। एकान्त स्थान में ऐसी सुन्दर वालिका को देखकर उन्हे वड़ा आश्चर्य हुआ। उसके प्रति उनके हृदय में दया उत्पन्न हुई और वह उसे उठाकर राजमहल में ले आये। उस समय तक वह सन्तानहीन थे। इसलिए वालिका को पाकर उनकी प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा। रानी भी उसे पाकर निहाल हो गयीं।

राजा-रानी दोनों वड़े प्रेम से उस कन्या का पालन-पोषण करने लगे। हल चलाने से खेत में जो रेखाएं पड़ती है, उन्हें 'सीता' कहते है। यह वालिका ऐसी रेखाओ के वीच में ही मिली थी, इसलिए उसका नाम भी 'सीता' ही रखा गया।

सीता को पाकर राजा जनक की साधना सफल हो गयी। उन्हे जैसी कन्या चाहिए थी वैसी कन्या उन्हे मिल गयी। इसलिए उन्होंने अपने हृदय का सारा प्यार, अपने राज्य का समस्त वैभव उस पर न्योछावर कर दिया। उन्होंने उसके विद्याध्ययन की अच्छी व्यवस्था की और थोड़े ही समय मे उसे सव कुछ सिखा दिया। धीरे-धीरे वह वड़ी हुई और युवावस्था में उसने पदार्पण किया। रूप और गुण की वह देवी देखते-देखते विवाह-योग्य हो गयी।

राजा जनक के पास कई वर्ष पहले का शिवजी का दिया हुआ एक वड़ा भारी धनुप पड़ा हुआ था। एक दिन राजकुमारी सीता ने उसे उठाकर दूसरे स्थान में रख दिया। धनुप वहुत भारी था और सीता थीं कोमल। राजा जनक को जव यह समाचार मिला तव वह आश्चर्य में पड़ गये और उसी समय उन्होने प्रतिज्ञा की कि जो उस धनुष पर डोर चढ़ा देगा, उसी के साथ सीता का विवाह होगा। यह संकल्प कर लेने पर उन्होंने स्वयंवर में उपस्थित होने के लिए राजाओं को आमंत्रित किया। अयोध्यापति राजा दशरथ के पुत्र रामचन्द्र भी, मुनि विश्वामित्र तथा अपने अनुज लक्ष्मण के साथ, इस स्वयंवर मे सम्मिलित होने के लिए आये।

एक दिन प्रातःकाल नित्यकर्म से निवृत्त होकर राम अपने भाई लक्ष्मण के साथ फूल लेने के लिए जनक की वाटिका मे गये। संयोगवश जनकनन्दिनी सीता भी पार्वती-पूजा के लिए उसी समय वहाँ पहुंची। घूमते-फिरते राम और सीता की चार आँखें हुई। दोनों एक दूसरे पर अनुरक्त हो गये

और मन ही मन एक दूसरे की प्राप्ति की कामना करने लगे।

स्वयंवर का दिन आ पहुँचा। राजाओं, राजकुमारों, ब्राह्मणो और पण्डितो से स्वयंवर-सभा भर गयी। विश्वामित्र के साथ राम और लक्ष्मण भी उसमें पहुँचे। मनोहर और वहुमूल्य वस्त्र-आभूपणो से सजकर, पुप्प-माला लिए हुए, सखियों के साथ सीताजी भी अपने निश्चित समय पर आ पहुंची। शिवजी का प्रसिद्ध, 'पिनाक' नामक विशाल धनुप सभा के मध्य में रखा गया। उसके आकार को देखकर वहुतों के तो होश उड़ गये। कुछ लोग अपनी शक्ति आजमाने तो गए, पर धनुप की डोर चढ़ाना तो दूर, वे धनुष को उठा भी न सके। यह दशा देखकर राजा जनक वड़े निराश हुए। उनकी चिन्ता देखकर रामचन्द्र ने मुनि से आज्ञा ली और धनुप के पास गए। उन्होंने सवके देखते-देखते धनुप को उठाकर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। प्रत्यञ्चा का चढ़ाना था कि कडाके के साथ धनुप के दो टुकड़े हो गये। यह देख कर सव लोग आश्चर्य मे रह गये। राजा जनक और उनके कुटुम्वियों के आनन्द की सीमा न रही। पुरोहित की आज्ञा से सीता ने रामचन्द्र के गले मे वर-माला डाल दी। सीता राम की हो गयीं और राम सीता के हो गये। दोनो की इच्छा पूर्ण हो गई।

राजा जनक फूले नहीं समाये। उन्होने तुरन्त यह शुभ समाचार अयोध्या भेजा और राजा दशरथ को विधिवत विवाह के लिए आमंत्रित किया। अगहन सुदी पंचमी को विवाह-निश्चित हुआ। उस दिन वड़े हौसले से राजा जनक ने

रामचन्द्र को अपनी प्यारी कन्या सीता का दान दिया। चारों ओर वेद की ऋचाएं सुनाई देने लगीं, वाजे वजने लगे, मंगल-गीत गाये गये और वर-कन्या तथा उनके माता-पिता पर उपस्थित लोगों ने फूलों की वर्षा की। इसी अवसर पर भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न का भी विवाह हो गया। जनक की छोटी लड़की उर्मिला का विवाह लक्ष्मण के साथ और उनके भाई की पुत्री माण्डवी का विवाह भरत तथा श्रुतिकीर्ति का शत्रुघ्न के साथ हो गया। राजा जनक ने अपार धन और हीरे-जवाहरातों के जड़ाऊ आभूपणों के साथ पुत्रियों को विदा किया। विवाह के पश्चात् सीता अपनी वहिनों के साथ अयोध्या आयीं। उनके आने से राजभवन चमक उठा। प्रतिदिन नये-नये मंगल कार्य होने लगे। इस प्रकार कई वर्प सुख से वीत गये।

राजा दशरथ वृद्ध हो गये थे। उनकी इच्छा हुई कि वड़े पुत्र राम का राज्याभिपेक करके मै राजकार्य से निवृत्त हो जाऊँ। इसलिए अभिपेक का दिन भी निश्चित हो गया। सारे नगर में आनन्द उत्सव आरंभ हो गए। परन्तु इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिससे लोगों के हृदय में आनन्द के स्थान पर शोक छा गया। राजा दशरथ ने, अपने पूर्व वचन से वँधे होने के कारण रानी कैकेयी के कहने पर राम को १४ वर्प का वनवास दे दिया।

कहाँ राजतिलक और कहाँ वनवास! सीता सन्न रह गईं, परन्तु पति को पिता के आज्ञा-पालन से विमुख करने का उन्होंने विचार भी न किया और स्वयं राम के साथ वन जाने के लिए

तयार हो गयीं। सीता और वनवास! सुख और वैभव में पली सीता वन कैसे जायगी और कैसे वहाँ पूरे चौदह वर्ष व्यतीत करेगी, यह अन्य लोगो के लिए एक समस्या हो गयी। उन्होने सीता को तरह-तरह से समझाया, स्नेह और भय-प्रदर्शन से काम लिया, पर पतिप्राणा सीता टस-से-मस न हुई। सीताजी के तीव्र आग्रह और दृढ-निश्चय पर आखिर राम ने उन्हें अपने साथ वन चलने की अनुमति दे दी। इस दारुण दृश्य से कौशल्या की छाती फटने लगी, पर यह देखकर कि दोनो धर्म पर आरूढ है, उन्होने भी आज्ञा दे दी।

भाई और भावज के वन जाने का समाचार जव लक्ष्मण को मिला तव उन्होने भी उनके साथ जाने का निश्चय किया और इस प्रकार राम, लक्ष्मण और सीता—तीनों ने वन की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या सूनी हो गयी। सारे नगर मे हाहाकार मच गया। महाराज दशरथ तो पुत्र-वियोग से इतने दुखी हुए कि कुछ ही दिनो वाद उनका प्राणान्त हो गया।

अयोध्या से विदा होने पर सीता और लक्ष्मण के साथ रामचन्द्रजी ने कुछ दिनो तक चित्रकूट पर्वत पर निवास किया। वाद मे चित्रकूट पर्वत को छोडकर वह गोदावरी नदी के किनारे दण्डकारण्य में चले गए और वहाँ पचवटी नामक एक वड़े सुन्दर वन-प्रदेश मे अपनी कुटिया वना कर रहने लगे। गोदावरी नदी के किनारे पचवटी मे प्रकृति पूरी वहार पर थी। माँ की गोद में वालक जैसे निर्भयता से खेलता है, वैसे ही सीताजी भी इस वन मे वड़े आनन्द से रहने लगीं। कभी वह मुक्तकण्ठ से स्वतन्त्र पक्षियो के साथ गीत गातीं, कभी आनन्द

और उत्साह के आवेश मे चञ्चलता से हिरनों के चञ्चल वच्चों के साथ खेलती-कूदतीं और कभी खिले हुए कमल के वन में पद्मिनी रानी की भाँति खिल उठतीं। पहाड़ों मे, नदी के कूलों पर और फूलो के वन में राम के साथ उन्हें जो सुख मिला उसके सामने अयोध्या की विभूति तुच्छ थी। पर सीता के भाग्य मे अधिक दिन तक यह सुख न रहा।

उस समय दण्डकारण्य में लंका-नरेश रावण की विधवा वहिन शूर्पणखा अपने मौसेरे भाई खर के साथ रहती थी। खर के पास चौदह हजार राक्षसों की एक विशाल सेना थी जिसका संचालन दूषण नामक सेनापति करता था। खर और दूपण दोनों शूर्पणखा के कहने मे थे। वह जैसा चाहती थी उनसे करा लेती थी। एक दिन घूमती-घामती वह पञ्चवटी जा पहुंची। वहाँ लक्ष्मण का अतिशय सुन्दर रूप देख कर वह उन पर आसक्त हो गई। उनके इन्कार करने पर वह राम के पास पहुंची और उनसे भी प्रेम की भिक्षा माँगने लगी। राम ने भी उसकी वात पर ध्यान नहीं दिया। इससे वह रुप्ट हो गयी। उसने समझा, सीताजी ही उसके मार्ग मे वाधक हैं। यह विचार आते ही उसने सीता की जीवन-लीला समाप्त करने की चेप्टा की। राम इसे सहन न कर सके। स्त्री का वध करना उचित नहीं था। इसलिए उनकी आज्ञा से लक्ष्मण ने पहले उसकी नाक काटी और फिर उसके कान काट कर उसे सदैव के लिए कुरूप कर दिया। इस प्रकार लंकेश से राम की शत्रुता आरंभ हो गयी।

शूर्पणखा के इस प्रकार अपमानित होने का समाचार जव खर-दूपण को मिला तव उन्होंने राम पर चढाई कर दी। इस

युद्ध मे राम ने सब को समाप्त कर दिया। शूर्पणखा तिलमिला उठी। वह रावण के पास लंका पहुची। राम और लक्ष्मण की बात कह चुकने पर सीता की उसने बड़ी प्रशंसा की और कहा—"सीता जैसी सुन्दरी इस संसार मे कोई नहीं है। तुम्हारी इतनी रानियाँ हैं, पर उनमे से कोई सीता तो क्या उसकी दासी होने के योग्य भी नही है। तुम्हारे ही लिए मैं सीता के पास गई थी पर इसी पर लक्ष्मण ने मेरे नाक-कान काट डाले। खर, दूषण और दूसरे जितने राक्षस वहाँ थे, उन सब को भी राम ने मौत के घाट उतार दिया। दण्डकारण्य मे अब तुम्हारा राज्य नही है। इस अपमान का तुम्हे बदला लेना है। इसलिए तुम अभी मेरे साथ चलो और सीता को लाकर उसके साथ अपना विवाह करो। ऐसा होने पर ही राम-लक्ष्मण की सच्ची नाक कटेगी और उन्हे उपयुक्त सजा मिलेगी, साथ ही तुम्हे भी अद्वितीय नारी-रत्न मिलने का लाभ होगा।

रावण समझदार था, पंडित था, पर शूर्पणखा के उत्तेजक शब्दो ने उसकी बुद्धि भ्रष्ट कर दी। वह उसकी बातो मे आ गया और मारीच नाम के एक मायावी राक्षस के साथ पुष्पक विमान मे बैठकर दण्डकारण्य पहुंचा। वहाँ, रावण की सलाह से, मारीच सोने के हरिण का रूप धारण कर राम की कुटी के आगे घूमने लगा। सीता उसे देखते ही उस पर लट्टू हो गयीं। उन्होंने राम से उसे पकड़ लाने के लिए आग्रह किया। उनका आग्रह राम न टाल सके। लक्ष्मण को सीता की रक्षा का भार सौप कर वह उस मायावी हरिण के पीछे दौड़े और दौड़ते-दौड़ते बहुत दूर निकल गये। फिर भी वह उसे न पकड़ सके। अन्त में उन्होने

अपने अचूक बाण से उसे आहत कर दिया। वह छटपटा कर पृथ्वी पर गिर पड़ा और गिरते ही राम के ही स्वर के समान स्वर बना कर 'भाई लक्ष्मण ! तुम कहाँ हो ? मेरे प्राण जाते है, आकर मुझे बचाओ !' कहते हुए उसने प्राण त्याग दिया।

कुटी में सीता ने जब यह आर्त्तनाद सुना तब वह अधीर हो उठीं। उन्होंने लक्ष्मण से घटना-स्थल पर जाने के लिए कहा। लक्ष्मण जानते थे कि रामचन्द्र महावीर है, उन पर कोई विपत्ति आना सम्भव नहीं है, परन्तु राम की विपत्ति की आशंका से सीता इतनी अधीर हो गई कि उन्हे अच्छे-बुरे का कुछ भी विचार न रहा। अन्त मे विवश होकर लक्ष्मण को वहाँ जाना पड़ा। लक्ष्मण का वहाँ जाना था कि सीता पर विपत्ति आ पड़ी।

रावण संन्यासी के वेश मे कुटी के पीछे छिपा हुआ था। अवसर पाकर वह कुटी के सामने आया। सीता ने उसे देखा और उसने सीता को। नत मस्तक होकर सीता ने उसका अभिवादन किया, उसे आसन दिया और फल-फूल से उसका सत्कार किया। संन्यासी के वेश मे रावण उसकी सेवा-सत्कार से प्रसन्न हो गया। उसने अपना परिचय दिया। उसका परिचय पाते ही सीता चौकन्नी हो गयीं। लक्ष्मण को भेजकर उन्होंने जो भूल की थी उसके लिए वह पछताने भी लगीं, पर अब हो ही क्या सकता था ! पलक मारते ही उस धूर्त्त संन्यासी ने सीता को अपने बाहु-पाश में जकड़ लिया और उन्हे अपने विमान मे बिठा कर लंका की ओर ले उड़ा। पंचवटी सूनी हो गयी।

सीता विमान मे छटपटाने लगीं। उन्हें संसार की नहीं, राम की चिन्ता थी। राम का वियोग उनके लिए असह्य था।

उनके हाहाकार से सारा आकाश गूंज उठा। मार्ग में जटायु पक्षी ने रावण का रथ रोक लिया। वह सीता को अच्छी तरह जानता था। सीता की रक्षा के लिए उसने रावण से युद्ध किया। पर कहाँ रावण और कहाँ जटायु ! जटायु घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। विमान तूफानी गति से आगे बढ़ गया।

सीता का विलाप कम नहीं हुआ। वह रोती ही रहीं। मार्ग मे सुग्रीव आदि को देखकर उन्होंने राम को अपना परिचय देने के लिए अपने कुछ वस्त्र एवं आभूपण नीचे गिरा दिये। रावण ने इसे देखा अवश्य, पर वह कुछ वोला नही। उसने विमान की गति और भी तेज कर दी और शीघ्र ही वह लंका पहुंचा। वहाँ अशोक वाटिका में सीता को रख कर वह निश्चिन्त हो गया।

सीता के लंका पहुंचते-पहुंचते राम स्वर्ण-मृग को मार कर पंचवटी की ओर वढ़े। मार्ग में लक्ष्मण को देख कर उन्हे शंका हुई। उनके पैर शिथिल हो गये, हृदय काँप उठा, आगे वढ़ना दूभर हो गया। पंचवटी पहुँचे तो देखा—सीता नही है। समझ गये कि सत्यानाश हो गया। किंकर्तव्य विमूढ़ हो दोनो भाई माथे पर हाथ रखकर वही वैठ गये और परिस्थिति पर विचार करने लगे। अन्त में वे उनकी खोज मे निकले। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते उन्हे घायल जटायु मिला। जटायु ने राम को वताया कि सीता को रावण हर ले गया है। इसके वाद उसका प्राणान्त हो गया। उसका अग्नि-संस्कार करके, सीता की खोज मे राम और लक्ष्मण दक्षिण की ओर वढ़े। धीरे-धीरे किष्किन्धा देश में आने पर सुग्रीव, हनुमान आदि के साथ उनकी भेंट हुई।

सुग्रीव ने राम को सीता का जो परिचय दिया उससे राम को विश्वास हो गया। राम ने सुग्रीव से सहायता माँगी। सुग्रीव नाहीं न कर सके। रावण ने किस ओर और कहाँ सीता को रक्खा है, इसकी खोज के लिए सुग्रीव ने चारों ओर अपने जासूसों को भेजा। दक्षिण की ओर महावीर हनुमान भेजे गये। वह एक ही छलांग मे समुद्र को पारकर लंका जा पहुंचे। वहाँ उन्होंने सीता की खोज की। उन्हे खोजते-खोजते वह अशोक-वाटिका मे पहुंचे। वहाँ के वृक्षों पर कूदते-फांदते उन्होंने देखा कि अशोक के एक वृक्ष के नीचे अशोक-वाटिका को दीप्तिमान करने वाली एक देवी बैठी हुई है। देवी का शरीर धूल मे सन रहा था, कपड़े फट गये थे, आँखों मे आँसू भरे हुए थे, उनके मुख से 'राम-राम' की ध्वनि निकल रही थी और चारों ओर घेरकर राक्षसियाँ उन्हे सता रही थीं। हनुमान समझ गये कि यही सीता हो सकती है। यह विचार आते ही वह उस वृक्ष के ऊपर, डाली और पत्तों के वीच, मे छिप गये। रात अधिक जाने पर दासियाँ तीन-तेरह हो गयी। उनके चले जाने पर वह नीचे उतरे। उन्होंने सीता को प्रणाम करके अपना परिचय दिया और राम का सन्देश सुनाया। वहुत दिनों के वाद राम का समाचार पाकर सीता वहुत प्रसन्न हुई। हनुमान जिस उद्देश्य से आए थे वह पूरा हो गया। सीता का कुशल-समाचार लेकर वह शीघ्र किष्किंधा लौट आये।

रावण का छोटा भाई विभीषण वड़ा धार्मिक था। उसने अपने भाई के अधर्म से दु:खी होकर अनेक वार उसे यह समझाया कि वह सीता को लौटा दे और राम से सन्धि कर

ले, परन्तु रावण ने उसकी सलाह न मानी और उसे अपने राज्य से निकाल दिया। ऐसी दशा मे विभीषण राम के पक्ष में आ मिला। लका मे बहुत दिनों तक रावण के साथ राम का युद्ध हुआ । रावण का भाई कुम्भकरण और पुत्र वीरवाहु, अतिकाय, मेघनाद आदि पराक्रमी राक्षस एक-एक करके मारे गये और अन्त में स्वयं रावण भी राम के हाथो मारा गया।

रावण की मृत्यु का शुभ समाचार सीता को सुनाने के लिए हनुमान अशोक-वाटिका में पहुँचे। सायंकाल का समय था। सीता चुपचाप चिन्तित बैठी हुई थी। हनुमान ने उन्हे राम की विजय और रावण की मृत्यु का समाचार सुनाया। यह सुनते ही उनकी आँखो से प्रसन्नता के आँसू बहने लगे। राम को पुन. पाने की आशा से वह निहाल हो गयी।

अशोक-वाटिका से वह हनुमान के साथ राम के पास आयी। सीता को देखते ही उन्होंने कहा—"सीता! रावण तुम्हें हर कर ले गया था, उस अपमान का बदला लेने के लिए उसका सहार करके मैंने तुम्हे मुक्त कर दिया। रावण ने दस महीने तक तुम्हे अपने घर मे रखा। इससे यह शंका होती है कि तुम शुद्ध नहीं हो। ऐसी दशा मे तुम्हें अग्नि मे प्रवेश कर साक्षी देनी होगी।"

लक्ष्मण ने राम की बात सुनकर क्रोध के साथ उनकी ओर देखा, पर राम मौन ही रहे। उन्होंने चिता तैयार की। जब चिता सुलग गई, तब अग्नि को प्रणाम कर सीता ने कहा—"यदि राम पर से मेरा चित्त किसी भी दिन चलायमान

न हुआ हो, तो हे सब के देखने और शुद्ध करनेवाले हुताशन ! तुम मेरी रक्षा करो। यदि मैं कलंकिनी मानी जाकर भी शुद्ध हूँ तो हे पापपुण्य के साक्षी भगवान् अग्निदेव ! मेरी रक्षा करो।" इतना कहते-कहते वह जलती हुई चिता में बैठ गईं।

चारों ओर हाहाकार मच गया। रामचन्द्र भी अपनी निष्ठुरता के अनुताप से दग्ध होकर विलाप करने लगे। पर सीता सती थीं, उनका पवित्र शरीर आग मे नहीं जला। साक्षात् मूर्तिमान् अग्निदेव चिता की आग से उन्हे बाहर निकाल लाये और उन्हे राम के पास ले जाकर बोले—"राम ! अपनी सीता को ग्रहण करो। पाप का इससे लेशमात्र स्पर्श नहीं हुआ है। मिथ्या कलंक का भय करके पतिव्रता, धर्मशीला और साध्वी पत्नी का परित्याग मत करो।"

राम ने सीता को आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात्, विभीषण को लंका का राजा अभिषिक्त करके, सबके साथ, पुष्पक विमान में बैठकर, वह वनवास से अयोध्या आये और बड़े सुख से राज्य-काज करने लगे।

सीता अयोध्या की राजरानी बनीं। सुख और वैभव में उनके दिन बीतने लगे। कालान्तर में वह गर्भवती हुईं। वन-वास के समय पंचवटी मे जिस निर्मल शान्ति का उपभोग उन्होंने किया था, गर्भवती होने पर, उसे कुछ दिन के लिए पुन. प्राप्त करने की उन्हें इच्छा हुई। पर उनकी यही इच्छा उनके सुखमय जीवन के लिए काल-रूप हो गयी। अकस्मात् राम को यह सुनाई पड़ा कि बहुत दिनों तक रावण के घर में रहने के कारण अयोध्या की प्रजा सीता पर कलंक लगाती है और

इसीलिए सीता को स्वीकार करने के कारण वह उनसे असन्तुष्ट हैं। सीता पर फिर विपत्ति आयी। एक वार वह राम की शंका का शिकार वन चुकी थी। इस वार उन्हें प्रजा की शंका का शिकार वनना पड़ा। प्रजा के अपवाद के सामने राम झुक गये। उन्होंने सीता को त्यागने का निश्चय कर लिया।

सीता तपोवन देखना चाहती ही थीं। अतः लक्ष्मण को यह काम सौंपा गया कि इस निमित्त वह उन्हें ले जाएं और महर्षि वाल्मीकि के तपोवन में उनको छोड़ दे। लक्ष्मण ने राम को वहुतेरा समझाया। लेकिन दृढ़-प्रतिज्ञ राम टस-से-मस न हुए। आखिर विवश होकर भ्रातृपरायण लक्ष्मण इस अत्यन्त निष्ठुर कार्य को करने के लिए तैयार हुए।

सीता को अभी तक किसी वात का पता न था। अतः वह प्रसन्नचित्त रथ मे वैठकर तपोवन की ओर चलने के लिए प्रस्तुत हुईं। लक्ष्मण उनके साथ थे। जव वह सीता-सहित महर्षि वाल्मीकि के तपोवन मे पहुंचे तव उन्होंने दु:ख और लज्जा के मारे नीचा मुंह करके सीता को राम की वह मर्म-वेधी आज्ञा सुनाई। उसका सुनना था कि सीता मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडीं। जव उनकी मूर्छा भंग हुई तव लक्ष्मण ने उन्हें वहुतेरा आश्वासन देकर समझाया और वाल्मीकि ऋषि के आश्रम मे रहने की सलाह देकर वह अयोध्या लौट आये।

सीता दु:ख के भारी वोझ से रोने लगी। थोड़ी देर पश्चात् वाल्मीकि मुनि वहाँ स्वयं आ पहुँचे और राजमहिषी सीता की दशा देखकर अत्यन्त दुखी हुए। वह उन्हे अपने आश्रम में ले

गये। आश्रम में रहने वाले मुनियों की पत्नियों तथा कन्याओ से उन्होंने सीता का परिचय करा दिया। तपस्वियो की पत्नियों ने सीता का वड़ा सम्मान किया। उनके साथ एक पर्ण-कुटी में सीता तपस्विनी की भाँति रहने लगीं। कुछ दिनो वाद उसी आश्रम में उन्होंने कुश और लव नाम के दो पुत्र-रत्नो को जन्म दिया और उन्हीं के पालन-पोपण मे उनका समय वीतने लगा।

धीरे-धीरे कुश और लव वड़े हुए। ऋषि वाल्मीकि ने उन्हे अनेक शास्त्रों की शिक्षा दी। राम और सीता के अपूर्व जीवन का वर्णन करने के लिए उन्होंने महाकाव्य की रचना की। कुश-लव ने इस रचना का भली भाँति अध्ययन किया। उन्हें इसमे इतना रस मिला कि वे तपोवन में मुनियों के सामने वीणा वजाकर, वड़े सुललित स्वर से, उसे गा-गाकर सुनाने लगे।

इसी वीच रामचन्द्र ने अश्वमेध यज्ञ की तैयारी की, पर पत्नी के विना धार्मिक कृत्य पूरा नहीं होता, इसलिए पुरोहितो ने रामचन्द्रजी से पुनर्विवाह करने के लिए कहा। एक पत्नी-व्रत राम ने उनका यह प्रस्ताव स्वीकार नही किया। ऐसी दशा मे सीता की स्वर्ण-प्रतिमा वनाई गई जिसे साथ लेकर रामचन्द्र ने यज्ञ प्रारम्भ किया। अन्य ऋपियों के साथ वाल्मीकि को भी इस यज्ञ का निमंत्रण गया और वह भी अपनी शिप्य-मण्डली के साथ आये। कुश और लव भी उनके साथ थे। सव एकत्र राजाओं और मुनियो के सम्मुख, वाल्मीकि के आदेश पर कुश और लव ने रामायण का पाठ किया। रामचन्द्रजी उनके रामायण-पाठ से वहुत प्रभावित हुए।

यज्ञ समाप्त होने पर दिग्विजय का घोड़ा छोड़ा गया। उस समय ऐसी प्रथा थी कि जो कोई इस घोड़े को पकड़ लेता था उसे युद्ध करना पड़ता था। कुश-लव इस समय अपने आश्रम मे थे। घोड़ा घूमता-फिरता उनके आश्रम मे पहुँचा। उन्होंने उसे कौतूहलवश पकड़ एक वृक्ष से बाँध दिया। इसका परिणाम हुआ पुत्र और पिता मे युद्ध। दोनों एक दूसरे से अपरिचित थे। राम ने यद्यपि दोनों बालकों को परास्त करने की भरपूर चेष्टा की तथापि उन्हे सफलता नहीं मिली। राम उन बालकों की वीरता पर रीझ गये और ऋषि वाल्मीकि से उनका परिचय प्राप्त किया। उस समय राम को यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि वे उन्हीं के पुत्र है। पुत्रों को देखकर और वाल्मीकि की तपोवन मे रहने वाली सीता की दशा सुनकर रामचन्द्र बहुत दुखी हुए। अन्त मे वाल्मीकि के आग्रह पर वह सीता को पुन. अङ्गीकार करने के लिए राजी हो गये, पर उन्होने कहा—"प्रजा मे पुन. इस बात से असन्तोष उत्पन्न न हो, इसके लिए सीता को भरी सभा मे सब के सामने अपनी निर्दोषिता सिद्ध करनी होगी।"

सीता अयोध्या आईं और वहाँ भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं, ऋषि-मुनियों और अयोध्या की प्रजा के सामने वह खड़ी हुईं। उस समय वाल्मीकि ने राम की कही शपथ तथा निर्दोषिता सिद्ध करने की बात उनसे कही।

सुनते ही सीता का कलेजा फट गया। वह यह दा ण अपमान न सह सकी। अत· उन्होंने किसी की ओर भी मुँह उठा कर न देखा। पृथ्वी की कन्या ने आज इस बड़े दु.ख के

समय भू-माता की ओर देख कर उसी की गोद में अपने दु.खमय जीवन की अन्तिम शान्ति और अन्तिम आश्रय प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की। धीमे करुण स्वर से उन्होंने कहा—"अपने तमाम जीवन मे राम के सिवाय और किसी को कभी भी मैंने अपने हृदय मे स्थान नहीं दिया। इसी धर्म के लिए, हे भूमाता! तू अपने गर्भ में मुझे स्थान दे। मैंने मन, वचन और काया से जीवन भर एकमात्र राम की ही पूजा की है; इस सत्य के वल पर, हे भगवती वसुन्धरा! इस दु.खी कन्या को अपनी गोद मे ले ले। जगह दे।" सीता का यह कहना था कि सव के देखते-देखते तुरन्त धरती फट गयी और चमकते हुए सिंहासन पर वैठी हुई साक्षात् पृथ्वी देवी अपनी कन्या सीता को गोद मे विठाकर पलमात्र मे जहाँ की तहाँ हो गईं।

: ५ :

माँ की ममता

कौरव-जननी गान्धारी अत्यन्त धर्मशीला और तेजस्वी महिला थी। पुत्र-स्नेह की दृष्टि से माता स्वभावत. दुर्बल होती है। पुत्र में चाहे कितने ही दोप क्यों न हो, माता उसका पक्षपात अवश्य करती है। गान्धारी ऐसी माता नहीं थी। उसने कभी अपने दुप्ट पुत्रों का समर्थन नही किया। धृतराप्ट्र पुरुष होकर भी कभी-कभी पुत्र-स्नेह के कारण अपनी दुर्वलता प्रकट किया करते थे, परन्तु गान्धारी के चरित्र मे इस प्रकार की दुर्बलता कभी देखने में नही आई।

गान्धारी गान्धार—वर्तमान कन्धार—देश के राजा सुवल की कन्या थीं। जिस समय जन्मान्ध धृतराप्ट्र के साथ उनका विवाह हुआ उस समय उसने अपनी आखों पर पट्टी बाँध कर देवताओं की आराधना करते हुए इस बात की प्रतिज्ञा की थी कि वह कभी अपने पति को अन्धा समझ कर उन पर अपनी भक्ति कम न होने देगी। यही एक घटना गान्धारी के चरित्र को महान बना देती है।

गान्धारी का भाई शकुनी वड़ा पापी और नीच-बुद्धि का क्रूर मनुप्य था। दुर्योधन आदि को उनके पापकार्य मे प्रोत्साहन और सहायता देने वाला शकुनी ही था। कौरवों की सभा मे जुआ

खेल कर पाण्डवों का सत्यानाश करने वाला भी वही था। पाँसा फेकने में वह वहुत निपुण था। उसी के वताए हुए कपटपूर्ण युक्ति के कारण ही राजा युधिष्ठिर को हराने में दुर्योधन समर्थ हुआ था। जुए का चस्का वुरा होता है। एक वार इसकी लत पड जाने पर फिर वड़ी कठिनाई से यह छूटती है। युधिष्ठिर स्वभावतः जुआड़ी नहीं थे, परिस्थितियों ने उन्हें जुआड़ी वना दिया था। वह खेलने वैठे तो हारते ही गये। हार का नशा उन पर इतना छाया कि अन्त में वह द्रौपदी तक को हार गये। उनका द्रौपदी को हारना था कि दुर्योधन की वन आई। उसकी आज्ञा से दुःशासन द्रौपदी को उसकी चोटी पकड़ कर राजसभा में खींच लाया और उसे अपमानित करने लगा। द्रौपदी उस समय दुर्योधन के अधिकार में थी, इसलिए वह कुछ नहीं वोली। दुर्वल धृतराष्ट्र ने भी उसकी कोई सहायता नहीं की। लेकिन अन्त.पुर मे वैठी हुई गान्धारी से चुप नहीं रहा गया। वह तुरन्त सभा मे आ पहुँची और द्रौपदी का अपमान रोकने के लिए धृतराष्ट्र से आग्रह करने लगी। इस पर धृतराष्ट्र ने द्रौपदी को धैर्य दिलाया और पाण्डवों को दासत्व से मुक्त कर दिया।

दुर्योधन जव पाण्डवों को मनमाना कष्ट न दे सका तव वह मन-ही-मन वहुत कुढ़ने लगा। कुछ दिन वाद शकुनी की सम्मति से उसने फिर धृतराष्ट्र से युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए वुलाने का आग्रह किया। पुत्रों के आग्रह के कारण धृतराष्ट्र ने फिर युधिष्ठिर को निमन्त्रण भेजा। दुर्योधन चाहता था कि इस वार जुए में पाण्डवों का सर्वस्व जीत लिया जाय और उन्हें एक लम्वी अवधि के लिए देश से निकाल दिया जाय। उसका

यह कुचक्र किसी प्रकार गान्धारी पर प्रकट हो गया। वह सतर्क हो गयी और शीघ्र ही अपने पति धृतराष्ट्र के पास पहुँची। उसने धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज! अपनी दुर्बुद्धि और पापी पुत्रों की बात मानकर अपने कुल का नाश करने वाले प्रपञ्च का आप कैसे समर्थन कर रहे हैं? जो आग एक बार बुझ चुकी है उसे आप फिर से क्यों सुलगा रहे हैं? पाण्डव बहुत ही धर्मशील और शान्त-स्वभाव के हैं। फिर आप व्यर्थ उनके साथ शत्रुता खड़ी करके उन्हे क्यों क्रोध दिलाते हैं? दुर्योधन आपका पुत्र है; उसे आपकी आज्ञा के अनुसार चलना चाहिए। परन्तु मैं देखती हूँ कि आप उलटे उसके ही पापपूर्ण विचारो का समर्थन करते हैं? आपको स्मरण होगा कि जिस समय दुर्योधन का जन्म हुआ था उस समय चारों ओर अपशकुन होने लगे थे। उन अपशकुनों को देखकर महात्मा विदुरजी ने कहा था कि यह पुत्र कुलांगार होगा। आज उनकी भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हो रही है। इसलिए मै तो अब भी यह कहती हूँ कि यदि आप कुरुवंश का कल्याण चाहते हों तो आप कुलांगार दुर्योधन का इसी समय त्याग कर दीजिए। नही तो वह किसी-न-किसी दिन कुरुवंश को भस्मीभूत करके ही छोडेगा।"

धर्म के लिए, कुल की रक्षा के लिए, स्वामी को पापी पुत्र का परित्याग करने की सलाह देनेवाली महान् माताएँ बहुत कम होती हैं। गान्धारी इसी प्रकार की माता थीं। उन्होंने धृतराष्ट्र को बहुत समझाया, पर उनकी मोहान्धता दूर नहीं हुई। वह दुर्योधन का विरोध न कर सके। युधिष्ठिर के पास जुआ खेलने के लिए पुनः निमन्त्रण भेजा गया। इस बार शर्त यह बदी गई

कि जो पक्ष हारे वह अपनी स्त्री के साथ बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास स्वीकार करे। जुआ हुआ और युधिष्ठिर फिर हारे। पाण्डवो को द्रौपदी के साथ तेरह वर्ष तक वन मे रहना पड़ा। इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् युधिष्ठिर ने पूर्व निश्चय के अनुसार राज्य का आधा भाग लेने का प्रस्ताव किया। श्रीकृष्ण मध्यस्थ वनाए गये। वह युधिष्ठिर का प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर पहुँचे। भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि अमात्यो तथा सभा में वैठे हुए वड़े-वड़े राजाओं ने युधिष्ठिर का संधि-सम्बन्धी यह प्रस्ताव स्वीकृत कर लेने के लिए दुर्योधन को वहुत समझाया-बुझाया। परन्तु दुर्योधन तो यह प्रतिज्ञा कर चुका था कि मै विना युद्ध किये युधिष्ठिर को सुई की नोक के वरावर भी भूमि न दूँगा। इसलिए उसने किसी की वात नही मानी।

उसी समय धृतराष्ट्र ने विवश होकर गान्धारी को सभा मे वुलाने के लिए आग्रह किया। जव गान्धारी सभा मे आई तव उसने सव वाते सुनकर धृतराष्ट्र से कहा—"महाराज! इसके लिए आपही पूर्ण-रूप से उत्तरदायी है। आप जानते थे कि दुर्योधन दुष्ट और पापी है। फिर भी आप सदा उसी के कहने के अनुसार चला करते थे। अब आज आपमें इतनी शक्ति नही रह गई कि आप उसके विचारों को पलट सकें। पाण्डव भी आपके अपने और सगे ही है। आज आप उनके साथ घोर संग्राम करने के लिए किस प्रकार तैयार होंगे? इससे आपके शत्रु हँसेगे और जगत् मे आपकी अपकीर्ति होगी। अत. चाहे जैसे हो, आप इसी समय दुर्योधन को सभा मे वुलाइए और मैने जो कुछ कहा है वह सव उसे वता दीजिए।"

माता की आज्ञा से दुर्योधन फिर सभा मे आया। माता ने उसे सम्बोधन करके शिक्षा के रूप मे कहा—"पुत्र! तुम क्यों भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य, विदुर आदि गुरुओ और बड़ों का उचित उपदेश नहीं मानते? पांडव भी तुम्हारे भाई ही हैं। तुम क्यों उनके भाग का राज्य उन्हे नही देते? याद रखो, तुम्हारा हठधर्म तुम्हे ही नहीं, तुम्हारे वंश और तुम्हारे राज्य को भी खा जायगा। इसलिए उन्हे युद्ध का आवाहन न दो। तुममे इतना बल नही है कि तुम पांडवो पर विजय प्राप्त कर सारा राज्य अपने अधिकार में कर सको। मोह के वश होकर तुम यह समझ रहे हो कि भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि योद्धा तुम्हारी सहायता करने के लिए प्राण रहते तक तुम्हारी ओर से युद्ध करेंगे। पर यह बात कभी होने की नहीं। उनका तुम पर और पाडवो पर समान रूप से स्नेह है। तब तुम किस बिरते पर यह आशा रखते हो कि वे पांडवों के विरुद्ध तुम्हारी सहायता करेंगे? तुम राजा हो। तुम्हारे अन्न से उनका पोषण होता है। ऐसी दशा में तुम्हारी सहायता करने के लिए वे कर्त्तव्य की दृष्टि से बँधे हुए है। उनका शरीर तुम्हारे साथ है, पर उनकी आत्मा पर तुम्हारा कोई अधिकार नही है। वे धर्मात्मा युधिष्ठिर पर कभी हाथ नही उठा सकते। इसलिए लोभ और मोह के वश होकर पाडवो का अमंगल करने का विचार मत करो; लड़ाई-झगडा करने का विचार छोड़ दो और पाडवों को उनके भाग का राज्य दे दो। यदि तुम ऐसा नही करोगे तो कुरु-कुल का सत्यानाश हो जायगा।"

परन्तु दुष्टमति दुर्योधन ने अपनी माता के इस उपदेश पर कुछ भी ध्यान नही दिया। ऐसे सुन्दर उपदेश से भी उसकी बुद्धि

ठिकाने नहीं आई। भीष्म, द्रोण तथा सभा में वैठे हुए दूसरे वड़े वड़े राजाओं ने भी दुर्योधन को वहुतेरा समझाया, पर वह किसी तरह राजी नहीं हुआ। अन्त में गान्धारी को वहुत अधिक क्रोध हो आया और उसने तीव्र शव्दों मे दुर्योधन का तिरस्कार करते हुए कहा—"दुर्योधन! आज मै इस सभा मे सवके सामने कहे देती हूँ कि तू वड़ा ही दुष्ट और नीच है। कुरुवंश के राजा वहुत दिनों से यह राज्य भोगते चले आ रहे है, पर आज तू इस राज्य को रसातल में पहुँचाने के लिए उतारू हुआ है। तुझे याद रखना चाहिए कि धर्मात्मा भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुर की इच्छा से ही तुझे यह राज्य मिला है, फिर भी तू उनकी आज्ञा का उल्लंघन कर रहा है? तू इस राज्य का होता कौन है? इस राज्य पर तेरा क्या अधिकार है? धर्मात्मा पाण्डु इस राज्य के राजा थे और उनके पुत्र युधिष्ठिर तथा उनके वंशज इस राज्य के वास्तविक अधिकारी है। इस पर किसी दूसरे का कोई अधिकार नहीं है। मै सव लोगों से प्रार्थना करती हूँ कि आप सव लोग मिलकर इस पापात्मा दुर्योधन का तिरस्कार करे। मेरी सम्मति मे धर्मात्मा युधिष्ठिर ही इस राज्य के वास्तविक अधिकारी है। भीष्म और धृतराष्ट्र के अनुमोदन से उन्हीं को इस राज्य का संचालन करना चाहिए।"

दुर्योधन ने गान्धारी की सारी वातें सुनीं और उन्हे विष की भाँति अपने गले के नीचे उतार गया। वह टस-से-मस न हुआ। उसने किसी का कहना नहीं माना। उसे राजा समझ कर धर्मभीरु भीष्म, द्रोण या और कोई उसकी आज्ञा की अवज्ञा न कर सके। अन्त में कौरव और पांडव कुरुक्षेत्र में युद्ध करने के लिए तैयार

हो गये। अठारह दिनों तक लगातार कुरुक्षेत्र में भीषण युद्ध होता रहा। हजारों वीर घायल हुए और मारे गये। युद्ध आरम्भ होने के पहले प्रतिदिन दुर्योधन अपनी माता से आशीर्वाद लेने के लिए जाया करता था, परन्तु धर्मशीला गान्धारी रोज दुर्योधन को यही उत्तर देती—"जहाँ धर्म है, वहीं विजय होती है। अधर्म की कभी विजय नहीं होती।"

पुत्र चाहे हजार अपराध करे, फिर भी उसके प्रति माता का हृदय बिलकुल स्नेहशून्य नहीं हो सकता। जिस गान्धारी ने कभी अपने पुत्रों का पक्ष नही लिया, जिस गान्धारी ने सदा अपने पुत्रो को पाप-मार्ग से बचाने के लिए उनकी भर्त्सना की और जिस गान्धारी ने घोर संग्राम में जाने के समय भी अपने पुत्र को कभी आशीर्वाद नहीं दिया वही गान्धारी अपने सौ पुत्रों की मृत्यु के शोक के कारण, असाधारण मानसिक बल होने पर भी, धैर्य धारण न कर सकी। वह अपने-आपको भूल गई और पांडवों को श्राप देने के लिए तैयार हुई। वह कुछ कहना ही चाहती थी कि श्रीकृष्ण पांडवों को दिलासा देकर और उन्हे अपने साथ लेकर शोकातुर गान्धारी को सान्त्वना देने और उसका क्रोध शान्त करने के लिए उसके पास आ पहुँचे। ठीक उसी समय महर्षि व्यास भगवान् भी इसी उद्देश्य से गान्धारी के पास आये। गान्धारी को सम्बोधन करके व्यासजी ने कहा—"देवी ! तुम सदा सुशीला और क्षमाशीला रही हो। फिर तुम आज किस लिए क्रोध कर रही हो ? युद्ध के समय दुर्योधन तुम्हारे पास आशीर्वाद लेने के लिए रोज आया करता था। उस समय तुम उससे कहा करती थी कि जहाँ धर्म है वही विजय है। तुम्हारी

जैसी साध्वी स्त्री का वचन कभी मिथ्या नही हो सकता। इसीलिए कुरुक्षेत्र के महायुद्ध में धर्म की ही जीत हुई है। वस, इसी वात का ध्यान करके तुम अपना क्रोध शान्त करो और पांडवों को क्षमा करो।"

अपने आँसू पोछती हुई गान्धारी वोली—"आर्य! मै पांडवों के प्रति किसी प्रकार का द्वेष नही रखती। मेरा यह कभी अभिप्राय नहीं है कि इन लोगों का नाश हो। कुन्ती जिस प्रकार पांडवों की हितैपिणी है उसी प्रकार मुझे भी उनकी हितैपिणी होना चाहिए। इसके सिवा मै यह वात भी वहुत अच्छी तरह जानती हूँ कि केवल मेरे पुत्रों के दोपों के ही कारण कुरु-कुल का नाश हुआ है। इसमें पांडवों का कोई अपराध नहीं है। परन्तु देव! दारुण पुत्र-शोक से मेरा हृदय भरा आता है। इसीलिए कभी-कभी मै अपने आपे से वाहर हो जाती हूँ। जव से मैने यह सुना है कि भीम ने दुर्योधन की जाँघ चीर कर उसका रुधिर पान किया है तव से मुझे वहुत अधिक दु.ख हुआ है। नाभी के नीचे के भाग में गदा का प्रहार करना युद्ध-नीति के विरुद्ध है। श्रीकृष्ण के रहते हुए भी भीम ने युद्ध-नीति का उल्लंघन किया, वस इसी का मुझे दु.ख है।"

भीम भी वहीं थे। उन्होने विनय-पूर्वक गान्धारी को समझाया कि केवल अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए ही मैंने दुर्योधन का उरु-भंग और रुधिर पान किया था। गान्धारी को भीम की वात सुनकर कुछ संतोप हुआ। वह वोलीं—"दुर्योधन और दु.शासन ने तुम्हारा अपराध किया था, इसके लिए तुमने उन्हे जो दण्ड दिया उसके लिए मै तुम्हे दोपी नहीं ठहराती।

परन्तु यदि तुम मेरे सौ पुत्रो मे से सवसे कम अपराध करने वाले एक पुत्र को भी जीवित रहने देते तो वृद्ध अन्धराज धृतराष्ट्र और मुझ अभागी को इस वृद्धावस्था में कुछ तो धैर्य होता। अव तो जो-कुछ होने को था वह तो हो गया। विधि के विधान मे किसी का हाथ नही है।"—इतना कहते-कहते गान्धारी की आँखो मे आँसू वहने लगे।

पाडवों ने वहुत तरह से गान्धारी को धैर्य दिलाकर सन्तुष्ट किया। इससे गान्धारी का क्रोध शान्त हो गया और उसने माता की भाँति पाडवो को आशीर्वाद दिया। जव गान्धारी का शोक कम हो गया तव वह पाडवों की स्त्रियों को सांत्वना देने के लिए उनके घर गईं और वहाँ उन्होने द्रौपदी, सुभद्रा आदि शोक-विह्वल पांडव-वन्धुओ को पर्याप्त सान्त्वना दी फिर वह श्रीकृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र की रण-भूमि मे गईं। पुत्रों और पौत्रों, कौरवो और पाडवो के पक्ष वालो और असख्य वीरों के रुधिर से सने हुए शव समरक्षेत्र मे पड़े हुए थे। रक्त और मांस के लालच से सियार, कौवे और गिद्ध चारों ओर जमा हो गए थे और शवों पर वैठे हुए मास खा रहे थे। कुरुवश की वहुएँ, भारत के विविध देशों के राजाओ की राज-माताएँ, महारानियाँ, जननियाँ और वीर पत्नियाँ अपने-अपने पति-पुत्रों के मृत-शरीरों को आलिंगन करके दारुण विलाप कर रही थी। इन वीभत्स दृश्यों को देख कर गान्धारी का गला भर गया। थोड़ी देर वाद अपने-आपको सम्हालकर उन्होने कहा—"कृष्ण! जिस दिन दु.शासन, दुर्योधन और कर्ण ने भरी सभा मे द्रौपदी का अपमान किया था, जिस दिन मेरे पुत्रों ने सव लोगों के आग्रह की उपेक्षा करके

पाण्डवों को उनका भाग देना अस्वीकार किया था, उसी दिन मैं समझ गई थी कि एक-न-एक दिन मुझे यह दृश्य देखना पड़ेगा। जव युद्ध के समय दुर्योधन मेरे पास आशीर्वाद लेने के लिए आया, तव मैंने यही कहा था कि अधर्म की कभी विजय नहीं हो सकती। उस समय मैं यह जानती थी कि मुझे दारुण पुत्र-शोक सहना पड़ेगा। पर आज यह दृश्य अपनी आँखों से देखकर मुझसे शान्त नही रहा जाता। मुझे एकमात्र इसी बात का सन्तोष है कि मेरे पुत्रों ने जो कुछ अधर्म किया था उसके वदले मे वे वीरता-पूर्वक युद्ध करके आज इस वीर शरशय्या पर सोते हुए स्वर्ग को सिधारे है। परन्तु कुरुवंश निर्मूल हो गया और भारत के वीरवंग का ध्वंस हो गया, इसकी शान्ति किस प्रकार हो? श्रीकृष्ण! तुम्हारा ज्ञान असीम है। तुम्हारी शक्ति भी असीम है। यदि तुम चाहते तो अवश्य यह युद्ध रोक सकते थे। तुमने शक्ति-सपन्न होते हुए भी यह युद्ध नही रोका; इसलिए आज मैं तुम्हे श्राप देती हूँ कि तुम्हारे ही हाथों से तुम्हारे यादव-वंश का नाश होगा और तुम्हे वह ध्वंस अपनी आँखों से देख कर वन मे वहुत निकृष्ट रीति से प्राण त्यागने पड़ेंगे।"

गान्धारी युद्ध-क्षेत्र से लौट आईं और कुछ दिनों तक अपने पति के साथ पाण्डवों के आश्रय मे रहीं। पाण्डवो ने उनका वहुत सम्मान किया। कुन्ती भी अपने दूसरे वहुत से काम छोड़कर दिन-रात उन्हीं की सेवा मे रहने लगीं; पर कुछ दिनो वाद धृतराष्ट्र के साथ गान्धारी वन को चली गई और वहीं रहकर तपस्या करने लगीं।

: ६ :

प्रेम की विजय

श्रीकृष्ण की पत्नी रुक्मिणी विदर्भ के राजा भीष्मक की कन्या थीं। वह साक्षात् लक्ष्मी के समान रूपवती और गुणवती थीं और अपनी बाल्यावस्था से ही श्रीकृष्ण से प्रेम करने लगी थीं। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपनी आँखों से तो कभी नही देखा था, पर उनके गुण और रूप की प्रशसा वह बरावर सुना करती थीं, इसीलिए वह उन पर मुग्ध हो गई थी।

दिन-पर-दिन बीतने लगे। चन्द्रमा की कलाओ की भाँति रुक्मिणी भी दिन-पर-दिन बढ़ने लगी। उसकी बाल्यावस्था पूरी हो गई और उसने किशोरावस्था मे प्रवेश किया।

रुक्मी रुक्मिणी का बड़ा भाई था। वह बड़ा ही हठी, उपद्रवी और अत्याचारी था। चेदि राज्य का राजा शिशुपाल उसका मित्र था। 'चोर का भाई गिरहकट' वाली कहावत के अनुसार शिशुपाल रुक्मी ही के समान था। दोनों मे गुण और दोष समान रूप से थे। रुक्मी ने अपनी बहिन रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ करने का निश्चय किया। जब रुक्मिणी को उसका यह निश्चय मालूम हुआ तब उसके हृदय को भारी ठेस पहुँची। उसने अपनी सखी चन्द्रकला को अपने हृदय का यह दुःख कह सुनाया। साथ ही, रोते-रोते उससे यह भी प्रार्थना की

कि तुम मेरी इच्छा किसी प्रकार मेरे माता-पिता पर प्रकट कर दो।

रुक्मिणी के माता-पिता को जव रुक्मिणी के मन की वातें मालूम हुईं तव वे वहुत प्रसन्न हुए। उन्हें रुक्मिणी की पसन्द अच्छी लगी। परन्तु उसके भाई को उसकी यह वात पसन्द नहीं थी। वह तो अपने पूर्व निश्चय के अनुसार उसका विवाह शिशुपाल से करना चाहता था। उसके माता-पिता उसके हाथ मे थे। अतः शिशुपाल के साथ ही रुक्मिणी का विवाह करना निश्चित हुआ। यहाँ तक कि सगाई की रस्म भी हो गई और विवाह का दिन भी निश्चित हो गया।

रुक्मिणी के होश-हवास जाते रहे। वह रोने लगी। उस समय उसको चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखाई देता था। माता-पिता, भाई, सगे-सम्वन्धियों में से कोई उसकी सहायता करनेवाला नहीं था। फिर भी वह निराश नहीं हुई। उसका इस वात पर पूरा विश्वास था कि निराधारों की सहायता परमात्मा अवश्य करते है। यह सोंचकर उसने अपने पड़ोस के एक वृद्ध व्राह्मण को वुलाया और उससे अपने हृदय की सव वातें साफ-साफ कह दीं। जव व्राह्मण को यह मालूम हुआ कि रुक्मिणी का संकल्प अच्छा है, तव वह वहुत प्रसन्न हुआ। उसने कहा—"वेटी! मै वृद्ध व्राह्मण हूँ। मैं सच्चे हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि तेरा मनोरथ सिद्ध हो। यद्यपि मैं वूढा हूँ तो भी तुम्हे इस काम में पूरी-पूरी सहायता देने के लिए तैयार हूँ। जिस प्रकार हो सकेगा, मै द्वारिका पहुँचूंगा और तुरन्त ही अपने साथ श्रीकृष्ण को ले आऊँगा। तुम भी उनसे मिलने के लिए तैयार रहना।"

वृद्ध की बातों से रुक्मिणी को बहुत संतोष हुआ। उसके सारे शरीर मे विजली की तरह आह्लाद व्याप्त हो गया और उसके मन मे अनेक प्रकार के विचार आने लगे। कभी तो वह यह सोचती—"वह तो द्वारिका के महाराज है। भला, वह मुझ जैसी सामान्य स्त्री की प्रार्थना क्यों स्वीकार करने लगे?" और कभी वह यह कहती—"वह मेरी प्रार्थना क्यो न मानेगे? वह तो बहुत ही दयालु है। मैंने सुना है कि जो कोई उनकी शरण मे जाता है उसकी रक्षा करने के लिए वह अपनी ओर से कभी कोई बात उठा नहीं रखते। मै एकाग्रचित्त से उन्हीं का ध्यान कर रही हूँ, उन्हे छोड़कर और किसी पुरुष का मैंने स्वप्न में भी विचार नहीं किया है। ऐसी दशा में इस आपत्ति से वह मेरी रक्षा क्यो न करेंगे? वह अवश्य मेरी रक्षा करेंगे।"

इस प्रकार कभी तो उसे आशा होती थी और कभी निराशा। अपनी इसी अनिश्चित मानसिक अवस्था मे उसने श्रीकृष्ण को देने को एक मार्मिक पत्र लिखा। जिसका भाव यह था—

"मै आपके लिए बिलकुल ही अनजान हूँ। परन्तु मै एक अच्छे कुल की वालिका हूँ। इस समय मै बहुत बड़े संकट मे पड़ी हूँ। इसलिए मै लज्जा छोड़कर आपको अपना परिचय दे रही हूँ। मै विदर्भ देश के राजा भीष्मक की कन्या हूँ। मेरा नाम रुक्मिणी है। मै नहीं कह सकती कि यह पत्र पढ़ चुकने पर आपके मन में मेरे प्रति क्या धारणा होगी। भय और लज्जा के कारण लेखनी रुक रही है। मुझसे और आगे लिखा नहीं जाता। हृदय स्तम्भित हुआ जाता है और जरा भी शान्त नहीं रहता। मैंने ऋषियो के मुँह से सुना है कि आप कृपा-सिन्धु है। पापियों को दण्ड देकर इस

पृथ्वी का भार उतारने के लिए ही आपने अवतार धारण किया है। इसलिए मैंने आपके पास यह पत्र भेजने का साहस किया है। आपके सिवा मेरी और कोई गति नहीं है।

"हृदय-देवता! आप विश्वास मानिए, जब से मैंने ऋषियो के मुँह से आपकी प्रशंसा सुनी है, जिस दिन मैंने स्वप्न में आपके शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी चतुर्भुज रूप के दर्शन किए हैं उसी दिन से मैं अपना तुच्छ हृदय आपके चरण-कमलों में अर्पित कर चुकी हूँ।

"मेरा भाई रुक्मी बहुत हठी और उद्धत है। उसने आपके शत्रु चेदिराज शिशुपाल के साथ मेरा विवाह करना निश्चित किया है। विवाह का समय भी बहुत पास आ गया है। परन्तु मैं पहले से ही अपनी इच्छा से आपको वर चुकी हूँ। अब मैं किसी दूसरे पुरुष को किस प्रकार स्वामी के रूप में ग्रहण कर सकती हूँ? माता-पिता के सामने ये सब बातें स्पष्ट रूप से कहते मुझे लज्जा मालूम होती है। मैं अपनी सखी चन्द्रकला से ही सब बाते कह कर रोया करती हूँ। स्त्री-जाति के पास रोने के सिवा और उपाय भी क्या है?

"मैं बहुत ही दु:खी हूँ। यह पत्र लिखते समय आँसुओं की धारा बह रही है, जिससे यह पत्र भी भींग रहा है। मालूम पड़ता है कि मेरा मृत्यु-काल बहुत समीप आ पहुँचा है। विकट राक्षस मुँह फाड़कर मुझे खाने के लिए चला आ रहा है। इसलिए, उसके आने से पहले ही, आप आकर इस दासी का उद्धार कीजिए और अपने चरणकमलों मे मुझे स्थान देकर कृतार्थ कीजिए।"

पत्र लेकर वृद्ध ब्राह्मण द्वारिका पहुँचा। उस राजनगर का सौन्दर्य और शोभा देखकर वह अवाक् रह गया। पक्की सड़को

पर हजारों आदमी आते-जाते थे। रास्ते के दोनों ओर सुन्दर बड़े-बड़े मकान बने हुए थे। नगर मे बहुत से बाग-बगीचे आदि थे और उनके रंग-बिरंगे फूलों की सुगन्ध सारे नगर मे फैल रही थी। छोटी-छोटी झीलों और तालावों आदि की भी नगर मे कोई कमी नहीं थी। वह सोचने लगा--भला, इतनी बड़ी राजधानी के अधीश्वर श्रीकृष्ण बेचारी रुक्मिणी के साथ किस प्रकार विवाह करेंगे? इस विचार के मन मे उत्पन्न होते ही बेचारे ब्राह्मण का सन्देह उत्तरोत्तर बढने लगा और उसे ऐसा जान पड़ने लगा कि यह काम अपने जिम्मे लेकर उसने बहुत बड़ा दुस्साहस किया है। तो भी किसी प्रकार अपना वचन पूरा करने के विचार से वह राजमहल के द्वार पर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर उसने द्वारपाल से कहा—"मैं विदर्भ नगर से आ रहा हूँ। श्रीकृष्ण के दरबार मे मुझे कुछ खास काम के लिए उपस्थित होना है। मुझे अन्दर जाने दो।" द्वारपाल ने अन्दर जाने की आज्ञा दे दी। थोड़ी ही देर मे वह श्रीकृष्ण के दरबार मे जा पहुँचा। श्रीकृष्ण का राज-सभा का ठाट देखकर वह स्तब्ध हो गया। उसे पत्र देने अथवा कुछ कहने-सुनने का साहस ही नहीं हुआ। अन्त मे उसने सोचा कि रुक्मिणी के विवाह का दिन बहुत निकट आ गया है; यदि इस समय मैं साहस छोड़ दूँगा तो काम न चलेगा। अतः श्रीकृष्ण के सामने जाकर उसने विनय-पूर्वक वह पत्र उनके हाथ मे दे दिया। श्रीकृष्ण ने पत्र पढ़ा और फिर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक रुक्मिणी की प्रार्थना मान ली। अस्त्र-शस्त्र, सैन्य, सामन्त, रथ-घोड़े आदि लेकर वह तुरन्त रुक्मिणी को लाने के लिए विदर्भ राज्य की ओर चल पड़े।

रुक्मिणी श्रीकृष्ण के आने की प्रतीक्षा कर रही थी। श्रीकृष्ण को आने में कुछ विलम्ब हो गया था। इसलिए वह सोचने लगी —"क्या उन्होंने मेरी प्रार्थना नहीं मानी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कहीं वह ब्राह्मण रास्ता ही न भूल गया हो। कदाचित् वह द्वारिका तक पहुँचा ही न हो। हाय! अव मै क्या करूँगी? आज तो मेरी मृत्यु का दिन आ पहुँचा। यदि श्रीकृष्ण मुझे स्वीकार न करेंगे, तो यह निश्चय है कि मै अपने प्राण त्याग दूँगी। अव मुझे मृत्यु के लिए तैयार रहना चाहिए।" रुक्मिणी इस प्रकार सोच-विचार कर ही रही थी कि इतने में ब्राह्मण ने वहाँ आकर उसे समाचार दिया कि श्रीकृष्ण सैनिकों और सामन्तों के साथ रथ पर सवार होकर यहाँ आ पहुँचे है और देवी के मन्दिर में सामने तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे है। ब्राह्मण की यह वात सुनकर रुक्मिणी के आनन्द का ठिकाना न रहा।

रुक्मिणी देवी की पूजा करने के वहाने तुरन्त वहां गई। अनेक दासियाँ उसके साथ थीं। उन दिनों राजा-महाराजाओ की कन्याएँ भी देवी का पूजन करने के लिए पैदल ही जाया करती थीं, इसलिए रुक्मिणी को भी वहाँ पैदल ही जाना पडा। जव मन्दिर से पूजा करके रुक्मिणी वाहर निकली, तव श्रीकृष्ण दौड़कर वहाँ जा पहुँचे और उसे रथ पर वैठाकर तेजी से उसे हाँक दिया। चलते समय उन्होने सव दासियों आदि से कह दिया—"मै रुक्मिणी के साथ विवाह करना चाहता हूँ, इसलिए उसे यहाँ से हरण कर के लिए जा रहा हूँ।"

दासियाँ तुरन्त मन्दिर से लौटकर राजभवन पहुँची और वहाँ उन्होंने रुक्मिणी के भाई रुक्मी को रुक्मिणी के अपहरण का

समाचार दिया। यह समाचार सुनते ही वह वहुत-सी सेना लेकर श्रीकृष्ण का पीछा करने के लिए तेजी से वढा। इस अवसर पर शिशुपाल वहुत ठाट-वाट से रुक्मिणी के साथ विवाह करने के लिए आया हुआ था। उसके साथ वहुत से राजा और सरदार आदि भी थे। रुक्मिणी के पिता ने सव लोगों को ठहरने आदि का वहुत अच्छा प्रवन्ध कर रखा था। जव इन लोगो को समाचार मिला कि द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण रुक्मिणी को हरण करके ले गये, तव वे भी सव श्रीकृष्ण के साथ युद्ध करने के लिए उनके पीछे दौड़े। श्रीकृष्ण ने रथ को पूर्ण वेग से चलाया। शत्रु-पक्ष के लोग भी पूरी तेजी से उनके पीछे दौड़े। यह युद्ध का आवाहन था। श्रीकृष्ण ने अपना रथ रोक दिया। दोनों पक्ष एक-दूसरे से भिड़ गये। घमासान युद्ध होने लगा। शिशुपाल के पक्ष के वहुत-से लोग मारे गये। जिस समय रुक्मी के प्राण लेने के लिए श्रीकृष्ण ने हाथ उठाया उस समय रुक्मिणी ने उनसे प्रार्थना की—"नाथ, यदि आप मुझ पर प्रेम रखते हों तो मेरे वड़े भाई की हत्या न करें। उनकी मृत्यु से मुझे वहुत दुःख होगा। अपने विवाह के शुभ अवसर पर अपने सम्वन्धियों का वध करना उचित नहीं है। आप उसे कृपा करके क्षमा कीजिए।" इस पर श्रीकृष्ण ने उसे छोड़ दिया।

अन्त मे रुक्मिणी के साथ श्रीकृष्ण का यथाविधि विवाह हो गया। राजा भीष्मक और उनकी रानी को भी इस विवाह से सतोष हुआ। सगे-सवधी और पास-पड़ोस के सभी लोग भी वहुत प्रसन्न हुए। इसके वाद रुक्मिणी और श्रीकृष्ण ने वहुत प्रेमपूर्वक जीवनयापन किया। रुक्मिणी का पति-प्रेम इतना जवरदस्त और आदर्श था कि आजतक सती स्त्रियों मे रुक्मिणी की गणना होती है।

: ७ :

राजकन्या से ऋषि-पत्नी

प्राचीन काल मे विदर्भ-राज का वहुत नाम था। उनके कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए उन्हें तपस्या करनी पड़ी जिसके फलस्वरूप उनके यहाँ एक कन्या ने जन्म लिया। उसका नाम रखा गया लोपामुद्रा।

लोपामुद्रा अत्यन्त सुन्दर और गुणी वालिका थी। उसका स्वभाव भी कोमल और मधुर था। उसे जो देखता था वही उसकी ओर आकृष्ट हो जाता था। अपने माता-पिता की तो वह सर्वस्व थी। उसे देखे बिना उन्हे चैन नहीं पड़ता था। परिवार के अन्य सगे-संवंधी भी उसे देखकर अपनी आँखें शीतल करते थे।

धीरे-धीरे लोपामुद्रा ४—५ वर्ष की हुई। विदर्भ-राज ने अपनी मर्यादा और वंश-परंपरा के अनुकूल उसे शिक्षा दी तथा गार्हस्थ्य-जीवन के सभी कार्यो मे कुशल वना दिया। इस प्रकार सर्वगुण संपन्न होकर जव उसने यौवन मे प्रवेश किया तव विदर्भ राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। इसी वीच ऐसा कुछ संयोग हुआ कि एक दिन महातपस्वी और व्रह्मचारी अगस्त्य मुनि ने कई आदमियों को एक वाड़े में औधे सिर लटकते हुए देखा। अगस्त्य ऋषि ने उनसे पूछा—"आप कौन है? आपकी ऐसी दशा कैसे हुई?" इस प्रश्न के उत्तर मे उन्होंने कहा—"हम

लोग तुम्हारे पितर हैं। तुमने अभी तक न तो अपना विवाह किया और न करने की इच्छा ही रखते हो। इसीलिए हमारी यह दशा हुई है। जब तक तुम सन्तान पैदा न करोगे, इस दशा से हमारा उद्धार नहीं होने का।" उनकी ऐसी बातें सुनकर अगस्त्य मुनि अपने योग्य स्त्री की खोज करने लगे। जब उन्होंने लोपामुद्रा के रूप-गुण का हाल सुना तब वह विदर्भ राज के पास पहुँचे और बोले—"राजन्! आपकी कन्या बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, विदुषी और गृहस्थाश्रम धर्म की पूर्ण ज्ञाता है। अतएव, पुत्रोत्पत्ति के लिए मैं उसके साथ विवाह करना चाहता हूँ"। मुनि की यह बात सुनते ही राजा के तो होश ही उड़ गये। उन्होंने जाकर रानी से कहा—"महर्षि अगस्त्य बड़े पराक्रमी और ब्रह्मनिष्ठ हैं। यदि उनकी इच्छा पूरी न की गई तो वह बहुत नाराज होंगे और शाप द्वारा हमें जलाकर भस्म भी कर देंगे। परन्तु इतना जानते और समझते हुए भी लोपामुद्रा सरीखी सुलक्षणा सर्वगुण-सम्पन्ना कन्या को वनवासी तपस्वी के हाथों सौंप देने में मुझे हिचकिचाहट होती है। इसलिए प्रिये! तुम्हीं बताओ, अब मैं क्या करूँ?" रानी राजा की इन बातों का कोई उत्तर न दे सकीं। इतने में राजारानी को चिन्तित देखकर स्वयं लोपामुद्रा ही वहाँ आ पहुँची और उनका मनोभाव जान कर कहने लगी—?"पिताजी! मेरे लिए आप जरा भी चिन्ता न कीजिए। आप बिना किसी सोच-विचार के मेरा विवाह अगस्त्य ऋषि के साथ कर दीजिये और अपनी रक्षा कीजिए।" कन्या की ऐसी पितृभक्ति और उसके हृदय की विशालता को देखकर राजा को बड़ी प्रसन्नता हुई और मुनि के साथ उन्होंने उसका विवाह

कर दिया। इस प्रकार विदर्भराज की इकलौती सन्तान, वड़े लाड़-चाव में पली हुई राज-कन्या लोपामुद्रा ऋषि-पत्नी हो गई।

लोपामुद्रा राजभवन का सुख और वैभव त्याग कर अगस्त्य मुनि के आश्रम मे पहुँची। मुनि ने उसे देखा। उन्हे वह प्रकृति की देवी-सी जान पड़ी। उसे देखते ही वह वोले—"कल्याणी! अव तुम राज-कन्या से ऋषि-पत्नी वनी हो। इसलिए ये वहुमूल्य वस्त्रालंकार हमारे आश्रम मे शोभा नही देते, इन्हे छोड़ दो।" ऋषि की यह वात सुनकर परम सुन्दरी लोपामुद्रा ने अपने वस्त्राभूषण उतार दिये और उनके स्थान पर वल्कल वस्त्र धारण करके वह स्वामी की सहधर्मिणी वन गई।

गङ्गा के किनारे अगस्त्य ऋषि का आश्रम था। खुला स्थान, चारों ओर प्राकृतिक दृश्यों की मनमोहक छटा, स्वच्छ और शांत वातावरण! ऐसे स्थान और वायुमंडल मे लोपामुद्रा का मन शीघ्र लग गया और वह भी अपने पति के साथ कठिन तप करने लगी। उसके व्यवहार से मुनि भी वड़े प्रसन्न रहने लगे। वह परछाईं की भाँति सदैव अपने पति के साथ ही रहती, उनके खा लेने पर स्वयं खाती, उनके सो जाने पर सोने जाती और उनके उठने से पहले जागकर काम-धन्धे मे लग जाती थी। इस प्रकार रात-दिन वह स्वामी के ध्यान में ही रहती थी; उनकी आज्ञा विना कोई भी काम न करती थी। देवता, अतिथि और गायों की सेवा करने मे भी वह कभी किसी से पीछे न रहती थी।

एक-दो-तीन, पति-पत्नी को इस प्रकार तप करते हुए कई वर्ष वीत गये। एक दिन प्रात.काल के समय तप से निवृत्त होकर

अगस्त्य मुनि ने लोपामुद्रा को देखा। उस दिन उनके देखने मे अन्य दिनो की अपेक्षा विशेप अन्तर था। वात यह थी कि उन्होंने जिस उद्देश्य से लोपामुद्रा के साथ अपना विवाह किया था वह अभी पूरा नहीं हुआ था। अतएव उस दिन उन्होने लोपामुद्रा को अपनी पत्नी के रूप मे देखा और अपनी इच्छा प्रकट की। उनकी इच्छा सुनकर लोपामुद्रा वोली—"हे ब्रह्मन्! इसमे जरा भी शक नही कि सन्तानोत्पत्ति के लिए ही स्वामी स्त्री को व्याहता है। ससार मे सार-रूप जितनी वस्तुए है, स्त्री के लिए उन सव मे एकमात्र सार पति ही है। स्त्रियों को वन्धुओं मे अपने पति से वढकर अच्छा वन्धु कोई नही दीखता। वह रमणियों का पालन-पोपण करने के कारण पति है; शरीर का ईश्वर होने के कारण स्वामी है; सव विपयों की अभिलापा प्रेमपूर्वक पूर्ण करने के कारण कान्त है; सुख मे वृद्धि करने के कारण वन्धु है, प्राण का मालिक होने के कारण प्राणेश्वर है, रति-दान रमण करने के कारण रमण है और प्रेम करने के कारण प्रिय कहलाता है। पति से वढ़ कर प्रिय और कोई नहीं है। उस प्रिय के वीर्य से ही पुत्र पैदा होता है, इसलिए स्त्रियो को पुत्र भी प्यारे होते है। पर स्वामिन्! आपके प्रति मेरा जैसा प्रेम है आपको भी मुझ पर वैसा ही प्रेम रखकर मेरी इच्छा को पूर्ण करना चाहिए। आज मुझे मायके का सुख याद आ गया है और मुझमे शृङ्गार की भावना जाग उठी है। मुझे विश्वास है कि आप मेरी यह इच्छा पूर्ण करके मुझे सेवा का अवसर देगे।"

अगस्त्य मुनि ने लोपामुद्रा की वाते सुनीं और थोड़ी देर तक मौन रह कर वोले—"लोपामुद्रे! तुम्हारे पिता वैभव-संपन्न

है। उन्हें किसी प्रकार की कमी नहीं है; परन्तु अपने यहाँ इस दीन हीन एकान्त आश्रम में वह वैभव कहाँ? यहाँ तो जो कुछ है प्रकृति ही है। हमें तो अपनी इच्छाएं इसी वातावरण मे रहकर पूरी करनी होंगी।"

ऋषि की बातें सुनकर लोपामुद्रा बोली—"हे तपोधन! इस संसार में जितने प्रकार के धन है उन सब मे तपोधन मुख्य है। तपोधन द्वारा विश्व का सारा धन क्षण-मात्र मे खींचकर लाया जा सकता है।"

ऋषि निरुत्तर हो गये। उनके मुखमंडल पर चिन्ता की रेखाएं स्पष्ट झलकने लगीं। पत्नी का आग्रह और वह भी उस पत्नी का जिसने वर्षों उनके साथ अपनी इच्छाओं का दमन किया था, वह बातों में उड़ा न सके। बोले—"तुम जो कहती हो, वह ठीक है; पर उससे मेरा तपोबल समाप्त हो जायगा। अतएव कोई ऐसा उपाय बताओ जिससे तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जाय और मेरे तप का भी क्षय न हो।"

लोपामुद्रा ने कहा—"प्राणनाथ! मैं आपका तपोबल नष्ट नहीं करना चाहती। मेरे कथन का किसी भी दशा में यह तात्पर्य नहीं है। इसलिए यदि धर्म के सुरक्षित रहते हुए मेरी अभिलाषा पूर्ण होती हो तो ऐसा कीजिए।"

अगस्त्य मुनि ने देखा कि उसकी इच्छा को पूरा करने अथवा न करने का जब समूचा भार उन्ही पर है तब वह चुपचाप उठे और यह कहकर कुटी से बाहर हो गए कि "सुभगे! तुम भी परम विदुषी हो। शास्त्र के मर्म को जानती हो। जब तुम्हारी बुद्धि में यह बात आ गई है तब मैं भी धन लेने जाता

हूँ। इसलिए जब तक मैं न आऊँ तब तक तुम स्वतंत्रतापूर्वक यहीं रहना।"

धन लेने के लिए मुनि श्रुतपूर्ण राजा के पास गये; पर जब राजा ने बताया कि उनकी आमद और खर्च दोनों बराबर हैं तब ऋषि ने उनसे कुछ भी न लिया। इसके बाद वह अन्य कई राजाओं के पास गये; पर उनकी दशा भी श्रुतपूर्ण सरीखी ही थी। अत. यह सोचकर कि इनके पास से धन लेने से प्रजा दुखी होगी, मुनि ने उनसे कुछ न लिया। इसके बाद इल्लव राजा के पास गये जो बड़ा धनवान् था और उसे अपने तपोबल का चमत्कार दिखाया। इल्लव ने ऋषि की और भी परीक्षा लेते हुए कहा, "अगर आप ठीक-ठीक यह बता दे कि मैंने आपको कितना धन देने का विचार किया है तो मैं आपको धन दूँगा।" इस पर ऋषि ने बता दिया कि आपने मुझे इतनी मुद्रा, इतनी गाये, इतने घोड़े आदि देने का इरादा किया है। मुनि का अन्दाजा सोलहों आने सच निकला। तब प्रसन्न होकर इल्लव ने उन्हे उतना धन भेट कर दिया।

महात्मा अगस्त्य धन और मणि-मुक्तादि के गहने लेकर अपनी पत्नी के पास आये और बोले—"कल्याणी ! तुम्हारे सदाचार से मै सन्तुष्ट हूँ, पर मै यह जानना चाहता हूँ कि सन्तानोत्पत्ति के बारे मे तुम्हारे क्या विचार है ? तुम्हे एक हजार पुत्र पैदा करना पसन्द हैं या सौ-सौ पुत्रो के समान सामर्थ्यवान् दस पुत्र ! अथवा ऐसा एक पुत्र जो अकेला ही अपने गुणों से हजारों को मात कर सके।" लोपामुद्रा ने उत्तर दिया—"तपोधन ! मैं तो हजार मनुष्यो के समान सामर्थ्यवान् एक ही पुत्र चाहती

हूँ; क्योंकि अनेक निकम्मी सन्तानों के वजाय एक ही साधु और विद्वान् सन्तान का होना कहीं अच्छा है।" अगस्त्य ने "तथास्तु" कहा। तदुपरांत अगस्त्य मुनि के औरस से यथा-समय लोपामुद्रा के दृढ़स्यु नाम का एक वालक पैदा हुआ। वह वड़ा विद्वान्, कवि और तत्त्वज्ञ था। माता-पिता से उसने धर्मशास्त्र का अध्ययन किया। लोपामुद्रा और अगस्त्य मुनि ने ऐसे शास्त्रज्ञ और विवेकी पुत्र की उत्पत्ति से समझा कि अव उनका गृहस्थाश्रम-धर्म सफल हो गया और इसके वाद स्वामी के साथ लोपामुद्रा भी फिर से तपस्या करने मे लग गई।

लोपामुद्रा और अगस्त्य मुनि का सांसारिक जीवन आदर्श-रूप था। पति-पत्नी साथ रहते हुए ईश्वराराधना और गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन कैसे करें, काम-वासनाएं कैसे दूर रखी जाय, चित्त की दुर्वलता किस प्रकार हटाई जाय, तथा विद्वान् पुरुप और विदुपी स्त्री सदा ही संसार-त्यागी न रहते हुए जगत की उन्नति के लिए सुयोग्य, धार्मिक, वलवान् और देशभक्त सन्तान पैदा कर अपनी ज्ञानज्योति को सदैव किस प्रकार प्रज्वलित रखे—इन सव वातों की शिक्षा लोपामुद्रा के जीवन से ही मिलती है।

: ८ :

वचन का मोल

प्राचीनकाल में विशाल देश एक शक्तिशाली राज्य था। उसकी राजधानी थी विदिशा। वैशालिनी वहाँ के राजा की पुत्री थी। उसका असली नाम भामिनी था, परन्तु अपने पिता विशालराज के नाम से वह अधिक प्रसिद्ध थी।

वैशालिनी बड़ी रूपवती, गुणी और प्रतिभा-सपन्न बालिका थी। समय पाकर जब वह विवाह योग्य हुई तब उसके स्वयवर के अवसर पर देश-देश के राजा एकत्र हुए। उस समय भारत का मुख्य राजा सूर्यवशी करन्धम था। करन्धम के पुत्र कुमार अविक्षित का तेज और पराक्रम अतुलनीय था। वैशालिनी के रूप-गुण की चर्चा सुनकर वह भी स्वयवर मे आया।

वैशालिनी के स्वयंवर में वीरता की कोई शर्त नहीं रखी गई। वह अपनी रुचि के अनुसार जिसे चाहे उसे वर सकती थी। ऐसी स्थिति मे अविक्षित को यह चिन्ता हुई कि यदि वैशालिनी ने उसे पसन्द न किया तो उसका बहुत अपमान होगा, वह लोगो की दृष्टि मे गिर जायगा। अपनी इस चिन्ता को शान्त करने के लिए वह उपाय सोचने लगा। सोचते-सोचते अन्त मे उसने यह निश्चय किया कि यदि उसने उसे पसन्द न किया तो वह उसका अपहरण कर लेगा।

परन्तु एक नारी का अपहरण—सोचने मे यह विचार जितना सरल था उससे कई गुना कठिन था उसके अनुसार कार्य करना। ऐसी स्थिति में अविक्षित ने वैशालिनी से पहले ही मिलकर उसकी इच्छा जान लेने की चेष्टा की। लोगों से बातचीत करने पर उसे ज्ञात हुआ कि वैशालिनी शाम को राजमहल के पास वाले बगीचे मे टहलने के लिए आती है। अविक्षित बेधड़क उस उपवन मे चला गया। अन्दर जाते ही उसने देखा—एक देव-कन्या अपनी सखियों के साथ फूल चुन रही है और स्वयं एक फूल के साथ खेल रही है। अविक्षित कन्या के सामने जाकर खड़ा हो गया और उसे आश्चर्य मे डालते हुए पूछने लगा—"क्या राजकुमारी वैशालिनी आप ही है?"

"जी हाँ; आप कौन है?" कन्या ने कहा।

"मै महाराज करन्धम का पुत्र अविक्षित हूँ!" युवक बोला।

वैशालिनी ने एक वार उसे सिर से पैर तक देखा, फिर पूछा—"क्या महापराक्रमी योद्धा अविक्षित आप ही है? यहाँ आप क्यों आये है?"

"आपको एक बार देखने के लिए।"

"ऐसी तो कोई प्रथा नहीं है। क्या आप कल मुझे स्वयंवर-सभा मे नहीं देख सकते थे?"

"जरूर देख सकता था, परन्तु उससे पहले आपसे कुछ वातचीत कर लेना मुझे आवश्यक मालूम पड़ा। क्या मैं आपसे एक वात पूछ सकता हूँ?"

"क्या पूछना चाहते है? राजकुमारी वोली।"

"कल स्वयंवर-सभा मे आप किसे वरेंगी ?" कुमार ने पूछा।

वैशालिनी ने हँसकर कहा—"यह मैं आपको इस समय कैसे वता सकती हूँ ? स्वयंवर-सभा मे आए हुए सभी पुरुषो को देखूँगी, उनका परिचय सुनूँगी, इसके वाद मुझे रूप, गुण, शौर्य आदि में जो सर्वश्रेष्ठ मालूम होगा उसे वरूंगी।"

अविक्षित ने कहा—"शौर्य, पराक्रम और भाग्य इन तीनों वातो मे करन्धम का पुत्र अविक्षित समस्त भारतवर्ष में श्रेष्ठ है।"

वैशालिनी वोली—"अपने ही मुँह अपनी वड़ाई करना कुमार अविक्षित को शोभा नही देता। अपनी श्रेष्ठता मनुष्य को श्रेष्ठ कामों द्वारा प्रकट करनी चाहिए। स्त्रियों के सामने अपनी प्रशसा वघारना वीर पुरुषो का काम नही है।"

"तो क्या आप मुझे नहीं वरेंगी ?" कुमार पूछ वैठा।

"स्वयंवर-सभा मे पधारिए। मै चाहूँगी तो वहीं वर लूँगी।" वैशालिनी वोली।

अविक्षित ने कहा—"याद रखो, आजतक अविक्षित ने वासना मे निष्फल होकर पीछे कदम नही हटाया है। आपको मुझे ही वरना होगा। यदि ऐसा न हुआ तो......।"

"तो क्या होगा ?" आश्चर्य से वैशालिनी ने कहा।

"तो किसी भाग्यशाली पुरुष के कण्ठ मे स्वयंवर-माला पहनाने के पहले ही तुम्हे ले भागूँगा।" कुमार ने कहा।

वैशालिनी ने गर्वपूर्वक उत्तर दिया—"ओ हो, इस प्रकार भय दिखाकर मुझे अपने वश मे करने के लिए कुमार अविक्षित ने यहाँ आने का कष्ट किया है ! अच्छा, यदि यही वात है, तो

मेरा भी सुन लीजिए। मै अपनी इच्छा से आपको नहीं वरूंगी। ऐसी दशा में मै आपको अपना सारा साहस वटोर कर आने की चुनौती देती हूँ। वस, मुझे और कुछ भी नहीं कहना है। अव आप अपने शिविर मे जाकर विश्राम कर सकते हैं।"

अविक्षित का सारा तेज पानी-पानी हो गया। "अव तो राजकन्या को हरण करके ही उससे विवाह करना पड़ेगा।" इस तरह विचार करता हुआ वह अपने शिविर पहुंचा और वैशालिनी को हरण करने की युक्ति सोचने लगा।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही मंगल-वाद्यों से सारा नगर गूँज उठा। राजा तथा राजपुत्र अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण पहनकर तथा अपने-अपने आयुधों को धारण करके स्वयंवर-सभा मे आने लगे। नगर में शंख, शहनाई आदि मंगल वाद्यों का घोप वढने लगा। वैशालिनी अपनी सखियों को लेकर स्वयंवर-सभा मे जाने के लिए निकली। एकाएक अविक्षित सभा से उठकर वाहर गया। उसके सैनिक अपने शस्त्रास्त्रों को लेकर मार्ग मे उसकी राह देखते हुए खड़े थे। ज्योंही वैशालिनी निकट आई, अविक्षित ने उसे उठा कर रथ में रखा और चलता वना! सैनिक भी अपने घोड़ो को एड़ लगाकर हवा हो गए।

सारे स्वयंवर-मण्डप में हाहाकार नच गया! "ले भागा रे ले भागा! राजकुमारी को अविक्षित उड़ा ले गया! मारो, मारो; पकड़ो!" की ध्वनि से सारा आकाश गूँज उठा। सव राजा और राजपुत्र दौड़ पड़े। उनकी सेना भी तैयार खड़ी थी। सवने अविक्षित का पीछा किया। इधर विशाल-राज की सेना भी वेखवर नहीं थी। ज्योंही अविक्षित वैशालिनी को लेकर भागा

त्योंही सेना ने उसे नगर के वाहर ही रोक लिया। तव तक आमन्त्रित राजाओं की सेना भी आ पहुँची। अविक्षित चारों ओर से घिर गया। उसके साथ कुछ साधारण अनुचरों का एक छोटा-सा दल-मात्र था और इधर था सेना का सागर! पर वह सच्चा वहादुर घवराया नहीं। वाण-पर-वाण वह वरसाने लगा।

वड़ी देर तक युद्ध होता रहा। अविक्षित के वाणों से कितने ही राजा और राजकुमार घायल हो गये। जव राजाओं ने देखा कि अविक्षित को धर्म-युद्ध मे हराना कठिन है, तव उन्होंने ऐसे कुटिल उपायो से काम लेना आरभ किया जो युद्ध-शास्त्र के अनुसार निन्दनीय थे। फलस्वरूप अन्त मे अनेक शस्त्रों से घायल होकर अविक्षित रथ से पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके गिरते ही राजाओं ने दोडकर उसे मजवूत रस्सी से वाँध दिया। कैदी अविक्षित और वैशालिनी को लेकर सारा राज-समाज नगर को लौट आया। विशाल-राज चिन्ता मुक्त हो गये। वैशालिनी के लौट आने से उन्हें वड़ी प्रसन्नता हुई। आमंत्रित राजे-महाराजे तो थे ही, स्वयंवर का मडप भी ज्यो का त्यों था। युद्ध मे विजयी हो कर सव लोग वहाँ पुनः एकत्र हो गये। यह देखकर विशाल-राज ने अपनी पुत्री से कहा—"वेटी, जो विघ्न उपस्थित हो गया था वह टल गया। अव यहाँ वैठे हुए राजाओ तथा राजकुमारों में से जिसे चाहे वर ले।" पुरोहित ने कहा—"मुहूर्त्त तो वीत गया। परन्तु ये सव क्षत्रिय वीर विजयी होकर आये है। इससे वढ़कर शुभ मुहूर्त्त और कौन-सा हो सकता है? कुमारी! इन विजयी वीरों मे से जिसे चाहो वर लो।"

वैशालिनी ने सिर नीचा करके कहा—"आज तो मैं किसी को भी नहीं वरूंगी।"

कन्या की अनिच्छा देखकर राजा ने उससे अधिक आग्रह नहीं किया। उसने सभा मे वैठे हुए राजाओं से जाकर कह दिया, "मेरी पुत्री का चित्त कुछ अस्वस्थ है,इसलिए आज वह किसी को न वरेगी। कुछ दिन वाद शुभ दिन देखकर मैं आप सवको सूचित कर दूँगा, तव आप फिर कृपा कीजिएगा। उस दिन मेरी पुत्री जिसे चाहेगी वर लेगी।"

सभी राजा अपने-अपने राज्य को लौट गये। उस दिन स्वयंवर नही हुआ।

कुमार अविक्षित के पराजित और वन्दी होने का अशुभ समाचार जव महाराज करन्धम के पास पहुँचा तव वह चतुरङ्गिणी सेना लेकर विदिशा पर चढ़ाई करने के लिए निकल पड़े। करन्धम ने अपने मित्रराष्ट्रों को भी वुला लिया। वे भी अपनी-अपनी सेना लेकर इस चढाई में करन्धम की ओर से शामिल हो गये।

विदिशा के निकट तीन दिन तक घोर युद्ध हुआ। अन्त मे विशाल-राज पराजित हो गया। उसने अविक्षित को कैद से मुक्त करके करन्धम के पास भेज दिया और सुलह की प्रार्थना की। करन्धम ने भी सुलह करके विशालराज से मित्रता कर ली। विशालराज अपने नवीन मित्र को वड़े समारोह के साथ नगर मे ले गया और वहाँ उसका वहुत आदर-सत्कार किया।

दूसरे दिन करन्धम और अविक्षित वैठे हुए वातचीत कर रहे थे कि इतने मे विशालराज भीतर से अपनी कन्या सहित आ

कर उनके सामने खड़े हो गये और उसका हाथ कुमार अविक्षित के हाथों मे देते हुए बोले—"मै अपनी पुत्री को इन्हे सौपता हूँ। आप भी अपनी पुत्र-वधू को स्वीकार कीजिए।"

वैशालिनी ने आगे बढ़कर करन्धम के चरणों मे प्रणाम किया। करन्धम ने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा—"चिरजीव हो बेटी! तेरे जैसी बहू को प्राप्त कर सचमुच मै अपने आपको कृतार्थ मानता हूँ। अविक्षित! मेरे मित्र विशालराज अपनी कन्या तुझे अर्पण कर रहे है।"

अविक्षित ने खड़े होकर उत्तर दिया—"पिताजी! मुझे क्षमा कीजिए। इस राजकुमारी के कारण ही मैं शत्रुओ के हाथ पराजित और बन्दी हुआ हूँ, इसलिए इससे मैं विवाह नहीं कर सकता। पुरुष को पराक्रमपूर्वक अपनी पत्नी की रक्षा करनी चाहिए और स्त्री को भी शौर्यशाली पति के आश्रय में सुखपूर्वक रहना चाहिए। जो पुरुष शत्रु-द्वारा पराजित हो जाय, नारी को उसे शत्रु के समान ही समझना चाहिए। परन्तु इसने स्वाभिमानवश ऐसा नहीं किया। मुझमें भी स्वाभि-मान है। इसलिए मै अपने पौरुष का अभिमान करके इसे स्वीकार नहीं कर सकता। ऐसी दशा मे महाराज! आप इस कन्या का दान ऐसे पुरुष को दीजिए, जो शत्रु-द्वारा अपमानित न हुआ हो और जिसका चरित्र पराजय-द्वारा कलंकित न हुआ हो। मै दिल से चाहता हूँ कि यह कन्या स्वयं भी ऐसे ही वर को वरे।"

करन्धम चुप हो गये। विशालराज ने पूछा—"महाराज, आपकी क्या आज्ञा है?"

करन्धम ने कहा—"अविक्षित ने जो कुछ कहा उसके वाद मैं और क्या कह सकता हूँ?"

विशालराज करन्धम और अविक्षित के उत्तर सुनकर वड़े असमंजस में पड़ गये। कुछ सोच-विचार कर वह अपनी पुत्री से वोले—"बेटी! इन लोगों ने जो कुछ कहा वह सव तू सुन चुकी है। अव तू अपनी इच्छा के अनुसार दूसरे वर को चुन ले। यदि तू चाहेगी तो मै स्वयं ऐसा वर खोज कर उसके साथ तेरा विवाह कर दूंगा।"

परिस्थिति वड़ी जटिल हो गई। विशालराज और करन्धम को इस बात पर वहुत दु.ख हुआ। यदि ऐसा ही था तो युद्ध का यह सारा झगड़ा ही क्यों किया गया? परन्तु वैशालिनी ने इस अवसर पर वड़ी बुद्धिमानी से काम लिया। नत मस्तक होकर वह वोली—"पिताजी! राजकुमार भले ही अपनी अवज्ञा करे, अपने को अयोग्य समझें, परन्तु उनका पराक्रम मैंने अपनी आँखों देखा है। सैकड़ों योद्धाओं के साथ उन्हें लड़ते हुए देखने पर मैं यह मानने के लिए कदापि तैयार नही हूँ कि राजकुमार पराजित हुए है, अथवा किसी से पराजित हो सकते है। सच्ची वात तो ठीक इससे विपरीत है। राजकुमार अकेले थे, फिर भी उनके पराक्रम से वार-वार पराजित होने पर शत्रुओं ने अधर्म-युद्ध करके उन्हे हराया। ऐसी दशा मे उनके लिए जरा भी लज्जा की वात नहीं है। प्रथम मिलन में मैने वड़े गर्व से उनका अपमान किया था। मेरे यह कहने पर ही कि स्वयंवर में मैं आपको नहीं वरूंगी, उन्होंने मेरा हरण किया था। पर युद्ध मे उनका शौर्य देखकर मैं चकित रह गयी। उस समय मैंने उन्हीं को आत्मदान कर दिया।

मैं उनके रूप को देखकर पागल नही हो गई हूँ। उन्होने तो अपने अतुल शौर्य से ही मुझे अपने वश मे कर लिया है। उन्हे छोडकर मैं और किसी पुरुष को नहीं वरूंगी।"

विशालराज बोले—"पुत्र अविक्षित ! मेरी कन्या का कथन तुम सुन चुके। उसने जो कुछ कहा है वह सत्य है। मैं भी समझ चुका हूँ कि शौर्य और पराक्रम मे तुमसे बढ़कर कोई नही है। तुम्हारे विक्रम और शौर्य पर मेरी यह दुहिता तुम पर मुग्ध है। उसे स्वीकार कर मुझे कृतार्थ करो।"

करन्धम ने कहा—"बेटा! यह वैशालिनी तुम पर अनुरक्त है। उसका त्याग न कर। उसका पाणि-ग्रहण कर ले।"

अविक्षित ने गद्‌गद् होकर कहा—"विशालराज ! मुझ अधम को क्षमा कीजिए। मैं युद्ध मे शत्रु-द्वारा अपमानित हो चुका हूँ, इसलिए मैं अपने आपको एक अबला नारी से अच्छा नहीं समझता। मै नही समझता कि वीर पुरुषों में गिने जाने का मुझे कोई अधिकार है। केवल इसी कन्या की बात नहीं है, मैं तो भविष्य मे और किसी भी कन्या से विवाह नहीं करूँगा।" इतना कहने के पश्चात् पिता की ओर मुड़कर कुमार ने कहा—"पितृदेव ! मैंने अभी तक आपको अपने इष्टदेव के समान समझा है। आजतक मैंने आपकी किसी आज्ञा का उल्लघन नही किया है। आज भी मेरी श्रद्धा और भक्ति इन पितृ-चरणों में है। केवल इस आज्ञा को छोड़कर आप जो चाहे आज्ञा करे, मैं अपने जीवन को अर्पण करके भी उसका पालन करने के लिए तैयार हूँ।"

अविक्षित की बातें सुनकर सब मौन हो गये। यहाँ तक आकर बातों का सिलसिला टूट गया। अत्यन्त दु:खी हृदय से करन्धम अविक्षित को लेकर अपने राज्य को लौट गये।

विशालराज ने पुत्री से कहा—? "बेटी, अविक्षित ने तो तुझे स्वीकार नहीं किया। तू अब शान्तिपूर्वक विचार कर और किसी दूसरे राजकुमार को वर ले।"

अपने पिता की बात सुनकर वैशालिनी चिन्ता मे पड गयी। थोड़ी देर तक मौन रहकर वह बोली—"नहीं, पिताजी! यह कदापि नही हो सकता। हाँ! यदि आपकी आज्ञा हो तो वन में जाकर मैं तपस्या अवश्य कर सकती हूँ। अब मैं अपना सारा जीवन तपस्या ही में बिताना चाहती हूँ। मै यह देखना चाहती हूँ कि तपस्या के बल से मुझे अगले जन्म मे कुमार अविक्षित की प्राप्ति होती है अथवा नहीं।"

महाराज विवश हो गये। उन्हे वैशालिनी की बात माननी पड़ी। वैशालिनी पिता के प्रासाद को छोड़कर वन मे चली गई और वहाँ उसने कठोर तपोमय जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया।

कुमार अविक्षित अपने माता-पिता का इकलौता पुत्र था। उसके अविवाहित रहने का अर्थ था वंश का अन्त। यह सोचकर एक दिन उसकी माता वीरा ने अपने पुत्र को बुलाकर कहा—"बेटा! मैं किमिच्छक व्रत करना चाहती हूँ। इस व्रत के पालन मे मुझे तेरी और तेरे पिता की सहायता की भी जरूरत है। तेरे पिता ने तो सहायता करने की हाँ भर ली है, यदि तू भी मंजूर करले तो मैं व्रत का आरम्भ कर दूँ।"

अविक्षित ने कहा—"माँ, मै भी जरूर तुम्हारी सेवा करूंगा। वताओ मुझे क्या करना चाहिए?"

वीरा ने कहा—"वेटा! जव मै व्रत की दीक्षा ले लूँगी तव तुझे सव से पूछना पडेगा कि 'वताइए, आप क्या चाहते है?' और माँगने वाला जिस चीज को माँगे, उसे वह देनी पड़ेगी, फिर वह कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो और तुम्हे उसके लिये चाहे कितना ही कष्ट हो। वताओ, तुम यह कर सकोगे ? जो हो साफ-साफ कह दो। तुम्हे स्वीकार हो तो मै व्रत का आरम्भ कर दूँ।"

कुमार ने कहा–?"हाँ माताजी! मै आपके वचन का पालन करूगा। आप अवश्य अपना व्रत आरम्भ कर दे।"

वीरा ने व्रत की दीक्षा ली। अविक्षित प्रासाद के द्वार पर जा खड़ा हुआ और ऊँची आवाज से घोपणा करके वोला—"मेरी माता ने किमिच्छक व्रत की दीक्षा ली है। जिसे जिस चीज की आवश्यकता हो माँग ले। यदि वह वस्तु दुर्लभ भी होगी तो मै उसे लाकर दूँगा।" करन्धम को उपयुक्त अवसर मिल गया। उन्होंने आगे वढकर कहा—"कुमार! पहले मेरी इच्छा पूरी करो। मुझे एक पौत्र का दान दो।"

अविक्षित ने कहा—"पिताजी! आपने कैसी असम्भव वस्तु माँगी है। मैने तो यह सकल्प कर लिया है कि मै विवाह नही करूँगा। ब्रह्मचारी ही रहूँगा।"

करन्धम ने कहा—"परन्तु तुम्हारी इस प्रतिज्ञा से तुम्हारी माँ का व्रत भंग होता है वेटा! अपनी माता को दिए हुए वचन का निर्वाह करना यदि तुम्हें स्वीकार है तो विवाह करो और मुझे एक पौत्र का मुँह दिखाओ।"

अविक्षित स्तब्ध हो गया। कुछ समय बाद बोला—"पिताजी, अब यह सारा मामला मेरी समझ में आ गया। मेरा विवाह करने के लिए ही माँ ने यह सब खेल रचा है। पर अब क्या हो सकता है। मै तो विवश हूँ। वचन मे बंध गया हूँ। माता को वचन दे चुका हूँ, इसलिए उसके व्रत को निष्फल तो न होने दूँगा। आपकी इच्छा पूर्ण होगी। मै विवाह करूंगा। पर मेरी एक प्रार्थना है।"

"क्या प्रार्थना है अविक्षित ?" करन्धम ने आश्चर्य से पूछा।

"यही कि राजकुमारी वैशालिनी का मैंने बड़ी निष्ठुरता-पूर्वक त्याग किया है। यदि विवाह करूँगा तो उसी के साथ। आप विदिशा के नरेश को यह सूचना भेज दे कि यदि वैशालिनी ने किसी से विवाह न किया हो और यदि अब भी वह मुझे वरना चाहती हो तो मै तैयार हूँ।"

करन्धम ने कहा—"कुमार! यह व्यवस्था तो मैं कर देता हूँ। मैं भी यही चाहता हूँ कि यदि वैशालिनी अभी तक अविवाहित हो तो उसी के साथ तुम्हारा विवाह किया जाय।"

करन्धम और वीरा की सारी चिन्ताएं दूर हो गई। उनकी युक्ति सफल हो गयी। तुरन्त एक दूत विदिशा भेज दिया गया। वह विदिशा पहुंचा और विदिशा-नरेश को उसने शुभ समाचार सुनाया। इस समाचार से उन्हे प्रसन्नता तो अवश्य हुई, पर इसके साथ ही उन्हें दु:ख भी हुआ। वैशालिनी तो थी ही नहीं। वह तो वन मे तपस्या कर रही थी। विदिशा-नरेश ने उसका पता लगाया, पर वह कहीं नहीं मिली। अन्त मे निराश होकर दूत लौट आया।

प्रात.काल का समय था। दूत अभी विदिशा से लौटकर नहीं आया था। इससे राजा और रानी को विशेष चिन्ता थी। अविक्षित भी उदास रहता था। सहसा एक दिन उसे शिकार खेलने का ध्यान आया। वह तुरन्त उठा और एक जंगल की ओर निकल गया। अकेला तो था ही, शिकार खेलते-खेलते बड़ी दूर निकल गया। दोपहर हो गयी। सूर्य की प्रखर किरणे उसे उत्तप्त करने लगीं। प्यास के कारण उसका गला सूखने लगा। पानी की खोज मे वह कुछ आगे बढ़ा ही था कि उसे एकाएक वहाँ उस घने जंगल में एक स्त्री के रोने की आवाज सुनाई दी। वह जोर-जोर से पुकार रही थी, "कोई है? कोई है मुझे बचानेवाला? दौड़ो, इस अबला को बचाओ।"

अविक्षित ने समझा कि कोई अबला मुसीबत मे फँस गई है। उसने उत्तर में ऊँची आवाज से गरज कर कहा—"मत डरो, मैं आ रहा हूँ।" और फिर वह उसी दिशा मे तीर की तरह लपका जिधर से आवाज आ रही थी।

थोड़ी देर मे फिर उसी स्त्री की आवाज सुनाई दी—"अरे! मुझे बचाओ। महावीर अविक्षित की मैं धर्म-पत्नी हूँ। राक्षस मेरा हरण कर ले जा रहा है। कोई मुझे बचा सकता है? अविक्षित! कहाँ हो प्राणेश्वर, आओ दौड़ो। अपनी इस दासी की रक्षा करो।"

"यह कौन है? अविक्षित की स्त्री! मैं तो ब्रह्मचारी हूँ। फिर स्त्री कैसे? यह राक्षसो की माया तो नही है? कुछ भी हो। एक अबला हृदय-विदारक शब्दो मे सहायता के लिए पुकार रही है। उसकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है। यह सोचकर

विजली की गति से वह वहाँ जा पहुँचा। देखा, तो एक भयंकर राक्षस एक अवला को जवर्दस्ती पकड़कर ले जा रहा था। अवला अत्यन्त भयभीत हो रही थी। उसके वाल विखरे हुए थे, शरीर पर का मलिन वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गया था और वह रोती-चिल्लाती उसके पीछे-पीछे घसिटती हुई जा रही थी। उसे देखते ही अविक्षित ने राक्षस को ललकार कर रोका और खड्ग लेकर उसके रथ पर धावा वोल दिया। वस, दोनों के वीच भयकर युद्ध ठन गया। युद्ध वड़ी देर तक होता रहा। अन्त मे राक्षस अविक्षित के खड्ग से घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

कुमार के विजयी होते ही नारी ने चरणों में प्रणाम करके कहा—"कुमार अविक्षित ! मै तुम्हारी स्त्री हूँ। केवल तपस्या के वल पर ही आज मैंने तुम्हे पाया है। अव मुझे न त्यागिये।"

चकित होकर अविक्षित दूर हट गया और वोला—"देवी, तुम अपने आपको मेरी धर्मपत्नी तो वताती हो, पर तुम हो कौन ? मै तो तुम्हें नहीं पहचानता। मैंने तो यह संकल्प कर लिया था कि मैं कभी विवाह न करूंगा, परन्तु माता के किमिच्छिक व्रत में वचन-द्वारा वंध जाने के कारण इस संकल्प को मैंने त्याग दिया है। अव तो मुझे विवाह करना ही पड़ेगा। परन्तु मैंने अपनी मूर्खता के कारण अत्यन्त प्रेम करने वाली एक राज-कन्या का त्याग कर दिया है। उसके सिवा अन्य किसी भी कन्या को मै स्वीकार नहीं कर सकता।"

"कुमार ! वह भाग्यशालिनी कन्या कौन थी ?"

"विदिशापति विशालराज की दुहिता वैशालिनी।" वह वोला।

स्त्री का मुख-कमल एकाएक खिल गया। किन्तु साथ ही लज्जा से उसका मस्तक झुक भी गया। मन्द स्वर में वह वोली—"यह दासी ही वह भाग्यशालिनी वैशालिनी है।"

एकाएक कुमार की स्मृति भी जाग उठी। वह वोला—"वैशालिनी! मुझे स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि इस दुर्गम वन में इस तरह तुम्हारा मिलन होगा। तुम इस भीषण वन मे अकेली कैसे आई? यह कठोर तपस्या क्यों?"

वैशालिनी की आँखों से आँसुओं की धारा वहने लगी। गद्गद् कण्ठ से उसने कहा—"राजकुमार केवल तुम्हारे लिए। मैं अपने हृदय से तुम्हे वर चुकी थी। पर जव तुम मेरा त्याग करके चले गये तव मैंने समझ लिया कि अव संसार मे मेरा कोई नही है। ऐसी दशा मे कोई मार्ग न रह जाने के कारण पिताजी की आज्ञा प्राप्त करके मैं इस वन मे चली आई।"

राजकुमार ने कहा—"पर, तुमने तो मुझे इसी जन्म में प्राप्त कर लिया। तुम्हारी तपस्या सफल हो गई। चलो, हम राजधानी को लौट चलें।"

अविक्षित ने उसी वन मे गान्धर्व-विधि से उसके साथ विवाह कर लिया और उसे लेकर घर गया।

करन्धम और वीरा ने वड़े हर्षपूर्वक अपने पुत्र और वहू का स्वागत किया। उस दिन सारा राज्य प्रसन्नता से फूल उठा। चारों ओर मगल गान होने लगे और कई दिन तक होते रहे। यथा समय वैशालिनी के पुत्र भी हुआ। उसका नाम मरुत्त रखा गया। अविक्षित के पश्चात् वह पृथ्वी का अधीश्वर हुआ।

: ९ :

भूल का परिणाम

वहुत पहले की वात है। महेन्द्रपुर नामक नगर में महाराज महेन्द्रराय राज्य करते थे। हृदयसुन्दरी उनकी रानी का नाम था। उनके पुत्र तो हुए, पर कन्या कोई न थी। ईश्वर की कृपा से अनेक पुत्रों के पश्चात् उनकी यह मनोकामना पूर्ण हुई। उनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ।

राजसी सुख-वैभव और लाड़-प्यार में पली हुई उस कन्या का नाम अंजनासुन्दरी रखा गया और उसके लिए ऊंचे दर्जे की शिक्षा की व्यवस्था की गई। उसका शारीरिक सौन्दर्य तो आँखों को चौंधियाता ही था, उच्च शिक्षा के प्रताप से सदाचार का तेज भी 'सोने में सुगंध' की तरह अञ्जना मे खिल उठा।

धीरे-धीरे अञ्जना ने यौवन की देहली पर पाँव रखा और माता-पिता को उसके उपयुक्त वर की चिन्ता हुई। कन्या के अनुरूप ही वर हो, यही उनकी इच्छा थी। आखिर सोच-समझकर सवकी सलाह से आदित्यपुर के महाराज प्रह्लाद विद्याधर के पुत्र राजकुमार पवनजय के साथ अञ्जना का विवाह तय हुआ और वड़ी धूम-धाम से विवाह भी हो गया।

विवाह के वाद यौवन से उछलते हृदय और पति-मिलन की गुदगुदाती हुई हरी-भरी उमंगों को लेकर अञ्जना पति-

गृह में आई। परन्तु विधाता ने जितना अपूर्व सौन्दर्य और शालीनता उसे दी थी, उसी की अनुपात मे अधिक कष्ट और वेदना भी उसके भाग्य में लिख दी थी।

किसी सन्देह का शिकार होकर पवनजय उसकी उपेक्षा करने पर तुल गया। उसने अञ्जना का एकदम तिरस्कार किया। फलतः चिन्ता और क्षोभ मे क्षीणकाय और मन-मलीन होती हुई अञ्जना अपने दिन विताने लगी। इतने पर भी उसने अपने धीरज और शालीनता को न छोड़ा, अपने पति के प्रति रोष या दुर्भावना न रखते हुए, आते-जाते समय महल के झरोखों से ही उसे निहार कर वह अपने मन को सन्तोष देने लगी।

अञ्जना के माता-पिता को जव यह मालूम हुआ तव उन्होंने अपनी पुत्री को पीहर वुलाया, परन्तु अञ्जना ने सोचा—कुल-वधू को तो सुख-दुख कुछ भी क्यों न हो, ससुराल में अपने पति की छत्र-छाया मे ही जीवन-यापन करना चाहिए। यह सोचकर अञ्जना ने वहाँ जाने से इन्कार कर दिया।

वारह वर्ष ऐसे ही विरह-वेदना मे वीत गए। परन्तु न तो पवनजय का मन द्रवित हुआ, न अञ्जना ने ही विरह-वेदना से ऊवकर अपनी पति-निष्ठा को कम किया।

रावण के साथ वरुण का युद्ध हुआ। रावण का दूत महाराज प्रह्लाद विद्याधर के पास सहायता माँगने के लिए आया। अपनी वीरता प्रदर्शित करने का सुअवसर देख कुमार पवनजय युद्ध मे जाने को कटिवद्ध हुआ। युद्ध के लिए जाते समय माता-पिता का चरणस्पर्श करके वह शस्त्रागार में गया। अञ्जना से मिलने की तो उसे इच्छा नहीं थी, अतः स्वयं अञ्जना ही उसका

दर्शन करने के लिए वहाँ आ खड़ी हुईं, परन्तु कठोर-हृदय पवनजय ने यहाँ भी उसका तिरस्कार ही किया। उससे वात करना तो दूर, उसने एक नजर उसकी ओर देखा तक नहीं, मार्ग से उसे एक ओर ढकेलते हुए वह आगे वढ़ गया।

अञ्जना के स्त्री-हृदय को इससे वड़ी चोट लगी। युद्ध में जाते समय मिलना या एक नजर देखना तो दूर, उलटे सास-ससुर सव के सामने ऐसा तिरस्कार! उसका मन लज्जा और क्षोभ से विह्वल हो उठा। आख़िर प्रभु को ही एक-मात्र आधार मानकर उसने सदाचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने का संकल्प किया। इसके अतिरिक्त वह और कर ही क्या सकती थी। दुःख में भगवान् का सहारा ही शक्ति और सान्त्वना देता है।

माता-पिता से विदा होकर पवनजय ने अपने मंत्री प्रहसित के साथ ससैन्य रावण की सहायता के लिए प्रस्थान किया। चलते-चलते एक दिन मार्ग मे एक सरोवर के किनारे उन्होंने अपना डेरा डाला। रात्रि का समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। उसी सन्नाटे मे किसी पक्षी की हृदयवेधक आवाज सुनकर राजकुमार चौक पड़ा। उसने मंत्री से पूछा—"यह किसका स्वर है प्रहसित?"

"यह प्रदीप नदी के समीप है", प्रहसित ने कहा, "इसलिए उसके दोनों तीरों पर चकवा-चकवी वोल रहे हैं।"

राजकुमार ने कहा—"लेकिन स्वर से तो ऐसा प्रतीत होता है, कि वे रो-रोकर एक-दूसरे को वुला रहे हैं।"

"यही वात तो है राजकुमार!" प्रहसित ने अनुकूल अवसर देखकर कहा, "प्रकृति ने कुछ ऐसा नियम वाँध दिया है कि

चकवा-चकवी दिन भर तो एक साथ रहते हैं, परन्तु रात्रि को उनका मिलाप नहीं हो सकता। नदी के एक तीर पर चकवी और दूसरे पर चकवा होता है। इधर से चकवी बोलती है, उधर से चकवा उत्तर देता है। दोनों उड़कर मिलना चाहते हैं, परन्तु जब चकवा इधर आता है तो चकवी उधर पहुँच जाती है। इसी प्रकार रोते-रोते उनकी सारी रात कट जाती है।"

"और यह रुदन केवल रात भर के वियोग के कारण है ?" राजकुमार ने आश्चर्य से पूछा।

प्रहसित ने कहा—"हाँ, यह प्रकृति का नियम है और यदि संसार की संपूर्ण शक्तियां एकत्र होकर उसे तोड़ना चाहे तो भी उन्हे सफलता नहीं हो सकती।"

अब तो राजकुमार चिन्ता मे पड़ गया। घटना तो बिलकुल साधारण-सी थी, परन्तु इसने सहसा अपने जीवन की उसे याद दिला दी। मन-ही-मन वह कहने लगा—"मेरे निर्दय मन ! प्रकृति-माता के इन बेसमझ पक्षियों से शिक्षा ले और उस अबला का ध्यान कर, जो तेरे वियोग में दिन-रात रो-रोकर अपना यौवन बिता रही है। जब पक्षी एक रात्रि के वियोग मे इतने व्याकुल हो जाते हैं, तब अजना की भला क्या दशा होगी, जो वर्षों से विरह-दावानल में जल रही है !" उस समय एक-एक कर अतीत जीवन की सारी घटनाये उसकी स्मृति-पटल पर आने लगी और उसे महसूस होने लगा कि अपनी पत्नी के प्रति उसने बहुत उपेक्षा कठोरता और हृदय-हीनता का व्यवहार किया है। लज्जा और पश्चाताप से वह इतना विह्वल हो गया कि आगे जाना उसके लिए दूभर हो गया। अन्त में

प्रहसित की सलाह से युद्ध में जाने से पहले, एक बार अंजना से मिल आने का उसने निश्चय किया। ससैन्य जाना उसने उचित नहीं समझा, इसलिये वह गुप्त रूप से वहाँ पहुँचा।

छद्मवेश में जाकर जब राजकुमार ने अन्त.पुर के द्वार खटखटाए तब रात का समय था। चारों ओर सन्नाटा छाया हुआ था। लोग अपने-अपने विस्तरों पर सो रहे थे। अंजना की सखी वसन्तमाला अभी जाग रही थी। खटखटाहट की आवाज सुनकर वह उठी और कुमार का परिचय पाकर उसने द्वार खोल दिया।

अंजना उस समय पूजा में निमग्न थी। धर्म-कर्म से निवृत्त होकर वह आई तो पवनजय ने उससे क्षमा माँगते हुए कहा—"तू सचमुच सती है। मैंने तुझे कड़वी, मिथ्या और कठोर बातें कहकर बहुत चोट पहुँचाई है। निरादर भी तेरा बहुत किया है। इस सब के लिये अब मुझे बहुत पश्चात्ताप हो रहा है। अत: मैं तुझसे क्षमा चाहता हूँ। देवी! मुझे माफ कर।"

यह कहता हुआ वह हाथ जोड़कर उसके आगे झुक ही रहा था कि अञ्जना ने उसे रोका और मधुर शब्दों में आश्वासन देते हुए उसका स्वागत-सत्कार किया। कुमार इस प्रकार गुप-चुप वहाँ रहा। प्रात.काल होते ही वह चुपचाप युद्ध क्षेत्र मे जाने को प्रस्तुत हुआ। जब वह जाने लगा तब अञ्जना ने कहा—"आप चुपचाप यहाँ आकर रहे है। यदि, इसके फल-स्वरूप कहीं मुझे गर्भ रह गया, तो मै क्या करूँगी?" उसकी बात सुनकर कुमार ने अपनी अंगूठी निकालकर उसे दी और कहा—"तुम जरा भी भय न करो। शत्रु को जीतकर मै शीघ्र

ही लौटूँगा। जवतक मैं न आऊँ, मेरी निशानी के तौर पर तुम इस अंगूठी को अपने पास रखे रहो।"

पवनजय अपनी पत्नी से भेट करके चला गया। इधर एक रात के समागम से अञ्जना सुन्दरी गर्भवती हो गयी। धीरे-धीरे जव गर्भ के चिह्न दृष्टि-गोचर होने लगे तव सास को आश्चर्य हुआ कि पुत्र तो युद्ध करने गया है, वहू को गर्भ कैसे रहा। अञ्जना के प्रति उसे अविश्वास उत्पन्न हुआ और उसके चरित्र पर उसे निश्चित रूप से सन्देह हो गया। अञ्जना ने सकुचाते हुए उसे सव वात वताई, पर सास को विश्वास न हुआ और वह अञ्जना का तिरस्कार कर उसे वुरा-भला कहने लगी। यही नही; अपने पति से भी उसने अञ्जना की दुश्चरित्रता की वात कही। तव उन्होंने अञ्जना को उसके पीहर भेज दिया और एक पत्र द्वारा यह भी प्रकट कर दिया कि दुश्चरित्रता के कारण हम अञ्जना को घर से निकाल रहे हैं। दुश्चरित्रता का कलक जिस स्त्री को लग जाय, भला उसे भारतवर्ष का कौन पिता अपने घर रखेगा! राजा महेन्द्र ने भी उसे अपने यहाँ स्थान नहीं दिया, प्रत्युत् तिरस्कार के साथ अलग ही रखा। ऐसी दशा मे रानी हृदयसुन्दरी के मातृ-हृदय से न रहा गया। उसने उसे वुलाकर सान्त्वना दी और उसे सही भेद वताने के लिए कहा। अञ्जना के मुख से सव कुछ सुनकर उसे उसकी निर्दोषता का विश्वास तो हो गया, परन्तु लोकलाज और पति-क्रोध के आगे उसे सिर झुकाना पड़ा। उसने भी उसे जंगल मे ही रहने की सलाह दी। अजना विवश होकर जगल में चली गयी। उसकी दासी और सखी वसन्तमाला ने इस संकट काल में भी उसका साथ

न छोड़ा और अंजना के साथ-साथ जंगल में वह भी रहने लगी।

वसन्तमाला को अञ्जना के प्रति उनके माता-पिता का कटु व्यवहार वहुत असह्य और अपमानजनक लगा। उसे उन पर वहुत रोष आया और इसके लिए उसने उनका तिरस्कार भी किया। परन्तु अञ्जना के हृदय मे किसी के लिए रोष न था। उसने इसके लिए किसी को दोप न दिया। वह सन्तोप-पूर्वक वहाँ जीवन व्यतीत करने लगी।

प्रातःकाल का समय था। अञ्जना अपनी कुटी के सामने वैठी हुई अपने जीवन पर विचार कर रही थी। भाँति-भाँति के विचार उसके मन मे आते थे और उसे दुखी वनाकर विलीन हो जाते थे। वह नतमस्तक वैठी आँसू वहा रही थी। ठीक इसी अवसर पर एक साधु से उसका साक्षात्कार हुआ। उसे अञ्जना पर वहुत दया आई। उसने अञ्जना के उसके पूर्वजन्म का वृत्तान्त वताकर उसे सांत्वना दी। इससे अञ्जना की धर्म-प्रवृति को और भी प्रोत्साहन मिला और वह वहाँ धर्मानुप्ठान मे और भी अधिक उत्साह से प्रवृत्त हो गई।

समय आने पर जंगल की एक कन्दरा मे ही उसने पुत्र-प्रसव किया। उसका पुत्र वाल्यावस्था से ही वड़ा तेजस्वी और वलवान था। कहते है कि उसके जन्मते ही एक गन्धर्व उसे ले गया, इसलिए उसका नाम हनुमान रखा गया। यही वह हनुमानजी है जो अपने वल, पराक्रम एवं भक्ति के लिए हिन्दूमात्र के आराध्यदेव महावीर वने हुए है।

कालान्तर में पवनजय युद्ध में विजयी होकर घर लौटे।

अञ्जना पर व्यर्थ ही दुश्चरित्रता का कलंक लगाकर उसे घर से निकाल दिया गया है, यह जानकर उन्हे बड़ी मर्मवेदना हुई। आते ही अंजना के नाम को रटता हुआ वह उसकी खोज मे चल दिया। नगर-नगर और जंगल-जंगल में वह अञ्जना को ढूँढता हुआ भटकता रहा, परन्तु अञ्जना का कहीं पता न लगा। अन्त मे निराश होकर उसने आत्म-हत्या करने का निश्चय किया। जिस तरह पतिप्राणा स्त्रियाँ पति के पीछे जलती चिता मे कूदकर प्राणार्पण किया करती थीं उसी प्रकार वह भी चिता जलाकर उसमें कूदने के लिए कटिवद्ध हुआ; परन्तु उपयुक्त समय पर उसके पिता ने पहुच कर उसे रोक दिया और समझाया कि इस प्रकार आत्म-घात करना महापाप और कायरता का चिन्ह है।

इसी समय अञ्जना का आश्रयदाता प्रतिसूर्य विद्याधर भी उसे लेकर वहाँ आ पहुँचा और यह वताते हुए कि अंजना ने कठिन प्रसगों पर भी किस प्रकार पवित्रता से धर्माचरण में जीवन-यापन किया है, उसने हनुमान के जन्म और वल-पराक्रम का भी सव वृत्तान्त सुनाया, जिसे सुनकर सव लोग हर्ष से गद्गद् हो गये।

प्रतिसूर्य विद्याधर के आग्रह पर अञ्जना और हनुमान सहित पवनजय कुछ समय तक उन्हीं के पास रहे और फिर अपनी राजधानी को चले गये।

पुत्र हनुमान को माता-पिता ने अच्छी शिक्षा दी और उसके वय प्राप्त हो जाने पर उसे राज्य सौंप कर पवनजय ने दीक्षा ले ली। इसके पश्चात् अञ्जना सुन्दरी ने भी एक विद्वान् मुनि से दीक्षा ली और अपने कर्म का क्षय हो जाने से मोक्ष को प्राप्त हुई।

: १० :

वन की लक्ष्मी

प्राचीन काल में कल्याणी एक गरीब विधवा थी। वह एक गाँव के बाहर छोटी-सी झोपड़ी मे रहती थी। उसके एक छोटा पुत्र था। वही इस गरीब विधवा का एकमात्र सर्वस्व था। उसका नाम था जटिल। वह फूल-सरीखा सुन्दर, झरने के जल-जैसा निर्मल और आकाश के समान उदार था। वचपन से ही उसके सिर पर जटा निकल आई थी। इसी से लाड़ मे माँ उसे जटिल कहा करती थी और फिर यही उसका नाम पड़ गया।

कल्याणी में अपने नाम के अनुरूप ही गुण भी थे। उसका कोमल हृदय कल्याण और स्नेह से ओत-प्रोत था। गृह-व्यवस्था में भी वह वहुत कुशल थी। उसकी झोपड़ी गाँव के एक ओर विलकुल एकान्त मे थी, मगर कल्याणी की व्यवस्था इतनी उत्तम थी कि उसके घर में किसी वस्तु का अभाव महसूस न होता था। माॅ-वेटे सुखपूर्वक उस कुटिया में काल-यापन करते थे। किसी की हिसा न करना, उन्होंने अपना सिद्धान्त वना रखा था। फलत. जंगल के अनेक पशु-पक्षी उसकी झोपड़ी के आगे क्रीड़ा किया करते थे और कल्याणी उन्हें चुगाया करती थी। कल्याणी ईश्वर-भक्त भी थी। सदा भगवान् का नाम सुनाई देता रहे, इसके लिए उसने कई तोते-मैने भी पाल रखे थे। घर का काम-काज करते

हुए उनके मुँह से भगवान् का मधुर नाम सुनने मे कल्याणी को वड़ा आनन्द आता था।

कल्याणी की झोपड़ी रास्ते के किनारे पर ही थी, इसलिए एक-दो अतिथि भी प्रतिदिन उसके घर आ जाते थे। कल्याणी उनका सत्कार करती थी। अतिथि उसके स्वागत-सत्कार से इतने प्रसन्न थे कि उन्होंने उसका नाम ही 'वन-लक्ष्मी' रख दिया था। आस-पास के गाँवों मे कल्याणी 'वन-लक्ष्मी' के नाम से ही प्रसिद्ध थी।

एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण वहाँ आया और वालक जटिल को खेलते देखकर पूछने लगा—"वेटा! 'वन-लक्ष्मी' का आश्रम कहाँ है?"

जटिल वड़े आदर के साथ उसे अपनी माँ के पास ले गया। कल्याणी ने उसके वैठने को कुशासन दिया और उसके वैठने पर पुत्र-सहित भक्तिपूर्वक उसे प्रणाम किया। वृद्ध ने आशीर्वाद देकर कहा—"वेटी वन-लक्ष्मी! मै वहुत दिनों से चारों ओर तुम्हारे अतिथि-सत्कार की प्रशंसा सुन रहा हूँ। परन्तु आ नही सका। आज जव इस मार्ग से जा रहा था, तव विचार आया कि चलो वन-लक्ष्मी का आश्रम भी देखता चलूँ। इसीलिए आज यहाँ आया हूँ।"

वनलक्ष्मी ने आग्रहपूर्वक कहा—"महाराज! हमारे वड़े भाग्य है कि आपने यहाँ पधार कर इस कुटिया को पवित्र किया। अव आज तो कृपाकर आप यहीं विश्राम कीजिए।"

वृद्ध ने यह वात स्वीकार कर ली। थोड़ी देर पश्चात् वह स्नान करने चला गया। स्नानोपरान्त वह पूजा के आसन पर वैठा। इष्टदेव का स्मरण और पूजन करने के लिए उसे जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता थी, उन सवको कल्याणी ने

ऐसी योग्यता से यथास्थान रख दिया था कि वृद्ध को वड़ा सन्तोष हुआ। उसने कल्याणी और उसके पुत्र को वहुत-वहुत आशीर्वाद दिया और उन्हे 'अपराजिता' स्तोत्र का पाठ सुनाया। स्तोत्र का पाठ करते समय ब्राह्मण के नेत्रों से जलधारा वहने लगी। कल्याणी का हृदय उसकी भक्ति देखकर खिल उठा। पूजा समाप्त होने पर वृद्ध ने 'अपराजिता' अर्थात् रक्षा-कवच वालक जटिल के गले में वाँध दिया और आशीर्वाद दिया कि वह जहाँ जायगा वहीं वह विजय प्राप्त करेगा।

वातचीत मे ब्राह्मण ने जटिल की पढ़ाई के वारे मे भी पूछा। जव उसे यह ज्ञात हुआ कि व्यवस्थित रूप में उसकी पढ़ाई का प्रारम्भ नहीं हुआ है, तव उसने कहा—"सामने के गाँव मे विश्वरूप मिश्र की शाला है, वहाँ वालक को भर्ती करा दो। वहाँ पडितजी इसे व्याकरण, अलंकार और काव्य की शिक्षा देगे।"

कल्याणी ने कहा—"जटिल तो अभी विल्कुल वच्चा है, जंगल में होकर गुरूजी के यहाँ कैसे आ-जा सकेगा?"

ब्राह्मण ने कहा—"मैने इसके गले मे जो तावीज वाँधा है, वही इसकी रक्षा करेगा। साँप, शेर, चोर, डाकू कोई तुम्हारे वालक का वाल भी वाँका न कर सकेंगे। तुम किसी वात की चिन्ता मत करो।"

"जो आज्ञा" कहकर कल्याणी ने ब्राह्मण की चरण-रज माथे चढाई और ब्राह्मण आशीर्वाद देकर विदा हुआ।

दूसरे दिन सवेरे ही कल्याणी जंगल के उस पार जाकर जटिल को गुरूजी के सुपुर्द कर आई। ब्राह्मण ने गुरुजी से कह दिया था, इसलिए उन्होंने वड़ी प्रसन्नता के साथ उसे पढ़ाने का भार अपने ऊपर ले लिया।

वालक की शिक्षा का सुन्दर प्रवन्ध देखकर कल्याणी एक वड़ी चिन्ता से मुक्त हो गई। जटिल रोज सवेरे जल्दी उठता, पाठ याद करके स्नान-भोजन से निवृत हो, उस पार गुरूजी के घर पढने जाता और सारे दिन वहाँ रहकर सायंकाल अपनी माँ के पास लौट आता।

एक दिन जटिल की शाला के वालक वातों-ही-वातो मे एक-दूसरे से पूछने लगे कि 'तुम्हारे घर कौन-कौन है?' किसी ने कहा, 'मेरे माँ है, वाप है' और किसी ने कहाँ 'मेरे इतने वहन-भाई है'। इस प्रकार पूछते-पूछते जव जटिल की वारी आई, तव उसने कहा—"मेरे तो अकेली मेरी माँ ही है और कोई नहीं है।" कामन्दक नामक विद्यार्थी को यह वात कुछ अद्भुत मालूम पड़ी। उसने सोचा—"इसके घर मे और कोई पुरुष नहीं, तो वाजार से खाने-पीने का सामान आदि कौन लाता होगा? जरूर इसके और भी कोई होंगे, पर इसे मालूम न होगा।" पर जटिल ने कहा—"भाई! मुझे तो पता नहीं। मैंने तो आजतक और किसी को अपने घर मे नहीं देखा, फिर भी आज माँ से पूछकर कल तुम्हें ठीक-ठीक वताऊँगा।"

जटिल माँ के पास पहुँचा। सूर्य अस्त हो गया था। कल्याणी सायकाल की आरती कर रही थी। आरती समाप्त होने पर जटिल ने पूछा—"माँ! अपने कोई और भी है?" वालक के इस निर्दोष प्रश्न का कारण माता न समझ सकी, तव जटिल ने कामन्दक के साथ हुई अपनी सारी वातचीत उसे सुनाई। इस पर कल्याणी ने कहा—"वेटा! अपने और कोई नहीं, केवल एक दीनवन्धु है।"

जटिल ने पूछा—"माँ! दीनवन्धु मेरे क्या लगते है?"

कल्याणी ने कहा—"बेटा! वह तेरे बड़े भाई होते हैं।"

जटिल बोला—"वह कहाँ रहते है माँ?"

कल्याणी बोली—"बेटा! वह इस पृथ्वी में सब जगह विराजमान हैं। वह आकाश में भी रहते हैं और पाताल में भी रहते है। फल, फूल, घर, जंगल, सर्वत्र उनका निवास है। इस दुनिया मे ऐसी कोई जगह नहीं, जहाँ वह न रहते हों।"

जटिल ने कहा—"तब तो वह हमारी झोपड़ी में भी रहते होंगे न?"

कल्याणी बोली—"हाँ, भइया, वह यहाँ भी हैं।"

जटिल ने कहा—"तब हम उन्हे देख क्यों नहीं पाते?"

कल्याणी बोली—"उन्हे देखने की इच्छा करने से उनसे नहीं मिला जा सकता। उन्हे देखने के लिए तो प्रयत्न करना पड़ता है। भला इन चमड़े की आँखों से उन्हे देखा जा सकता है? उन्हे देखने के लिए तो दिव्य-चक्षु की आवश्यकता है।"

जटिल की उत्सुकता बढ़ी। उसने पूछा—"माँ! तुमने उन्हें देखा है?"

कल्याणी बोली—"न बेटा, मैने उन्हे नही देखा। मैं उन्हें पुकारती तो बहुत हूँ, पर वह दर्शन ही नहीं देते; फिर भी मै यह जान सकती हूँ कि मेरी पुकार सुनकर वह आते अवश्य हैं। सुख-दुःख में वह मेरा साथ देते है। दुःख से तंग आकर जब मैं घबरा उठती हूँ तब वही मुझे ढाढ़स बँधाते है।"

कल्याणी की बाते जटिल की समझ मे नहीं आई। वह बोला—"माँ! तुम्हारी ये बड़ी-बड़ी बाते मेरी समझ में नहीं आतीं। तुम्हें तो एक बार मुझे मेरे बड़े भाई दीनबन्धु को बताना ही पड़ेगा। तभी मै तुम्हारी बात सच मानूँगा।"

कल्याणी ने कहा—"वेटा! तू उन्हे वुला, वुलाने से ही वह आएंगे।"

जटिल वोला—"अच्छी वात है। मै उन्हें वुलाऊँगा, चिल्ला-चिल्ला कर पुकारूँगा; फिर?"

कल्याणी ने कहा—"चाहे जिस तरह वुलाने से वह नहीं आएंगे; जैसी चाहिए वैसी सच्ची आवाज देगा, तभी वह सुनेगे।"

निर्दोष वालक ने पूछा—"सच्ची आवाज कैसी होती है?"

तव कल्याणी ने सरल ढग से उसे ईश्वर की भक्ति और उपासना का उपाय वताया; परन्तु इतना छोटा वालक भला भक्ति क्या समझे? अतः उसने कहा—"माँ! तुम्हारी ये वाते मेरी समझ मे कुछ भी नहीं आई। मै तो वड़े भाई दीनवन्धु को वुलाऊँगा। जव वह मिल जाएंगे तव तुम्हारे पास उन्हे पकड़ लाऊँगा और उनसे कहूँगा कि तुम कैसे खराव वालक हो जो माँ के वुलाने पर भी नही आते।"

कल्याणी ने कहा—"वेटा! ऐसा मत कहो। वह तो सत्, पवित्र और मंगलमय हैं। किसी भी प्रकार की कोई इच्छा किये विना एकाग्रचित्त से यदि तू उन्हे वुलाएगा तो वह सुनेगे और तुझे दर्शन देगे।"

माँ की वात सुनते ही जटिल को मार्ग मे मिले हुए वृद्ध का स्मरण हो आया और माँ को विस्तार से सारी वात सुनाकर उसने कहा—"माँ! मै इस पार आ गया। इसके वाद वह वुड्ढा दीखा ही नहीं, पता नहीं कहाँ चला गया!

यह वृत्तान्त सुनकर कल्याणी को भगवान् की दया का स्मरण हो आया और वह रोने लगी। वह सोचने लगी—"भगवान् क्या वालक की सच्ची पुकार सुनेंगे? इसी तरह तो एक वार ध्रुव

ने भगवान् को पुकारा था और तव उन्होंने उस निर्दोष वालक को दर्शन दिया था। संभव है, मेरे जटिल की रक्षा के लिए भी वह ही आये हों। मन में यह विचार उठते ही उसने भक्तिपूर्वक भगवान् को प्रणाम किया और जटिल से कहा—"वेटा। अव जव कभी कोई संकट उपस्थित हो, तव अपने उन्हीं 'दीन-वन्धु' भाई को पुकारना। वह संकट से तुझे वचायेंगे।

वातों-ही-वातों में इस प्रकार वहुत रात वीत गई, तव भगवान् का मधुर नाम जपती-जपती कल्याणी जटिल को गोद में लेकर सो गई। दूसरे दिन से उस जंगल में होकर जाते समय जटिल को किसी-न-किसी का साथ मिल जाता। उसके साथ वातें करते-करते जटिल का जंगल का भयंकर मार्ग कट जाता। यह अचरज की वात थी कि जंगल के पार होते ही जटिल का वह साथी गायव हो जाता; जटिल को फिर उसके दर्शन न होते थे।

जटिल इस प्रकार निर्भयता के साथ शाला जाने-आने लगा। गुरू के उपदेश से उसके ज्ञान में वहुत वृद्धि हुई। मार्ग में मिलने वाले साथियों से अनुभव की वाते सुनकर उसकी वुद्धि वहुत तीव्र हो गई। गुरुजी की शाला मे जितने वालक पढ़ते थे उनमे जटिल का स्थान सर्वप्रथम था। सव विद्यार्थी उसे वहुत चाहते थे और गुरूजी भी, पढ़ने में उसका मन लगा हुआ देखकर वड़े प्रसन्न होते थे।

एक दिन शाला में जटिल ने सुना कि तीन दिन वाद गुरूजी के पिता का श्राद्ध है; उस दिन प्रत्येक विद्यार्थी को एक-एक वस्तु अपने घर से लानी होगी। किसी ने आटा तो किसी ने दाल, किसी ने घी, किसी ने शक्कर, इस प्रकार सव ने अपना-अपना

जिम्मा ले लिया। रह गया अकेला वेचारा जटिल! कामन्दक नाम के एक मसखरे वालक ने कहा—"अच्छा, तुम दही ले आना, जटिल!"

गुरूजी को यह सुनकर जटिल पर दया आ गई। उन्होंने कहा—"जटिल वेचारा अकेली विधवा का पुत्र है, वह भला दही कहाँ से लाएगा?"

कामन्दक ने कहा—"नही गुरूजी, ऐसी वात नहीं। यह एक दिन मुझसे कहता था कि इसके दीनवन्धु नाम का एक वड़ा भाई है।

गुरूजी ने जटिल से कहा—"अरे! इतने दिनों तक तूने मुझसे तो अपने वड़े भाई की वात ही नही कही?"

जटिल ने कहा—"गुरूजी! वात यह है कि दीनवन्धु भाई को मैंने देखा एक दिन भी नही है।"

गुरूजी—"तव वह कहाँ रहता है?"

जटिल—"मुझे मालूम नही, पर माँ ने कहा है कि वह आकाश, पाताल, थल, पृथ्वी सव मे है।"

जटिल की वात सुनकर गुरूजी समझ गये कि उसके दीनवन्धु भाई कौन है। उन्होंने जटिल से पूछा—"तुम्हारी माँ ने किसी दिन उनको देखा है?" इसके उत्तर मे जटिल ने माता के साथ हुई वातचीत, और अपने जंगल के साथी का हाल गुरूजी को सुनाया जिससे उनको वड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा—"जटिल! आज घर जाते समय तू अपने वड़े भाई दीनवन्धु को वुलाना और कहना कि आज मै तुमसे वटोही के वेश मे नहीं मिलना चाहता, आज तुम मुझे अपना सच्चा स्वरूप वताओ। फिर वह तुझे किस रूप मे दर्शन देते हैं, यह कल मुझे

वताना। फिर अपने उन वड़े भाई से यह भी पूछना कि गुरूजी के पिताजी के श्राद्ध में दहीं ला देने का जिम्मा तुम लोगे या नहीं?"

'जो आज्ञा' कहकर जटिल ने गुरूजी के पाँव छुए और आज्ञा लेकर वह घर चल दिया।

रास्ते में भयानक जंगल में से गुजरते हुए उसके पैर कॉपने लगे। रोज की तरह आज भी उसने दीनवन्धु को पुकारा। थोड़ी देर मे क्या देखता है कि उसके सामने एक साँवले रंग का 'वालक मस्तक पर मोर पंख धारण किए और हाथ में बाँसुरी लिए खड़ा हुआ मुस्करा रहा है। इस सुन्दर वालक को देखकर जटिल अवाक् रह गया। यही उसके दीनवन्धु थे। वह एकटक दीनवन्धु के मधुर स्वरूप की ओर देखने लगा। फिर वोला आज गुरूजी के पिता का श्राद्ध है भाई! "तुम उस दिन दही भेजोगे या नहीं?"

दीनवन्धु ने कहा—"अपने गुरुजी से कह देना कि दीनवन्धु उस दिन दही भेज देगा।"

शाम को घर आने पर जटिल ने माँ को सव हाल वताया जिसे सुनकर कल्याणी को वड़ा आश्चर्य हुआ। वह कहने लगी—"जटिल! तू क्या कहता है? क्या सचमुच तूने दीनवन्धु को देखा है? ठीक-ठीक वता, उनका कैसा रूप था?"

जटिल ने दीनवन्धु के रूप का हूवहू वर्णन करके वताया, पर कल्याणी की समझ मे कुछ न आया; क्योंकि जटिल ने जिस रूप का दर्शन किया वह तो भगवान् के रूप का वर्णन था उसे विश्वास न हुआ।

दूसरे दिन जटिल शाला गया तो देखा कि सव विद्यार्थियों ने अपने-अपने जिम्मे की चीज लाकर ढेर लगा रखा है। गुरुजी

ने उन चीजो को भण्डार में रख आने का आदेश दिया। जटिल ने गुरूजी को प्रणाम किया, तो उन्होने पूछा—"जटिल! तेरे दीनवन्धु मिले थे? क्या कहा?"

जटिल ने कहा—"हाँ, मिले थे। समय पर वह मेरे साथ दही भेज देगे।" दही की व्यवस्था हो गई, यह जानकर गुरुजी निश्चिन्त हुए।

श्राद्ध के दिन अनेक ब्राह्मण भोजन के लिए आ गये। परन्तु जटिल दही लेकर नहीं आया। बालक उसका मजाक उड़ाने लगे, गुरुजी भी चिड़चिड़ाये और ब्राह्मण भी अधीर हो उठे। सारा भोजन तैयार था, वस दही की ही देर थी।

आखिर ब्राह्मणो की अधीरता देखकर गुरूजी ने भोजन परोसना आरम्भ किया। उन्हे आशा थी कि परोसते-परोसते जटिल आ पहुँचेगा और यही हुआ भी। ऐन वक्त पर जटिल दही लेकर आ पहुँचा। दही एक छोटी हड़िया मे था 'इतने-से दही से क्या होगा?' यह सोचकर गुरूजी जटिल पर वड़े नाराज हुए; उन्होंने जटिल का लाया हुआ दही उठाकर फेंक दिया। हड़िया खाली हो गयी।

जटिल वेचारा रोने लगा। ब्राह्मणो को यह देखकर दया आई। उन्होने कहा—'इस बालक को मत रुलाओ; उसकी हड़िया मे जो दही वचा हो उसमे से थोड़ा-थोड़ा हमको दो, उसी से हमें सन्तोप हो जायगा।' गुरूजी ने जो हड़िया खोली तो देखा कि वह दही से ऊपर तक भरी हुई है। दही ब्राह्मणो को परोसा गया। इस दही का स्वाद अपूर्व था। ऐसा दही ब्राह्मणो ने पहले कभी न खाया था। उन्होने वार-वार दही माँगा, पर हंड़िया खाली हुई ही नही।

भोजनोपरान्त ब्राह्मणों ने जटिल का हाल पूछा। उसके दीनबन्धु भाई की बात सुनकर सब को वड़ा अचरज हुआ। जटिल को आशीर्वाद देकर वे अपने-अपने घर गये। गुरूजी ने जटिल से कहा—"चल जटिल! आज तेरी माँ के पास चल कर उन्हे प्रणाम कर आऊँ।"

गुरूजी ने अभी भोजन नहीं किया था। आज उनकी भूख-प्यास मर गई थी। उनके मन मे तो आज स्वर्गीय भाव रम रहे थे। उनका हृदय भक्ति की मस्ती में झूम रहा था। जटिल को अपने साथ लेते जाते हुए वह कहने लगे—"जटिल! आज तुझे अपने वड़े भाई दीनबन्धु को मुझे भी दिखाना होगा। मैंने आज पानी तक नहीं पिया है। तेरे दीनबन्धु मुझे खिलाएंगे तभी मै खाऊँगा, नहीं तो अपने प्राण त्याग दूँगा।"

जटिल ने कहा—"गुरूजी! यह कौन वड़ी वात है। वह तो इस जंगल मे ही आपको मिल जाएंगे।"

जंगल मे रोज की जगह पहुँचने पर जटिल ने दीनवन्धु को आवाज दी, पर उत्तर में किसी ने कहा—"आज तू तो अकेला नहीं है, फिर डर क्या है? आज मुझे क्यों वुलाता है?" जटिल ने कहा—"वड़े भाई, आज मैंने गुरूजी को वचन दिया है कि मैं उन्हे तुम्हारे दर्शन कराऊँगा, अतः तुम्हे उनको दर्शन देने पड़ेंगे।" देखते-ही-देखते जटिल के सामने एक दिव्य ज्योति प्रकट हुई। उस ज्योति के प्रकाश से सायंकाल का अंधेरा नष्ट हो गया और जंगल जगमगा उठा। ज्योति मे एक छायामूर्ति थी। जटिल ने कहा—"दीनबन्धु भैया! आज तुम्हारा यह कैसा रूप? रोज तो तुम मुझे ऐसे रूप में नहीं दिखाई पड़ते थे।"

छाया-मूर्ति ने उत्तर दिया—"भाई ! यही मेरा सच्चा स्वरूप है। लेकिन भक्त जिस भाव से मेरा ध्यान करता है उसी भाव मे मै उससे मिलता हूँ।"

जटिल ने गुरूजी से दीनवन्धु के दर्शन करने को कहा। पर गुरूजी को केवल प्रकाश ही दिखाई पड़ता था। जटिल ने उन्हे वताया कि इस प्रकाश के अन्दर एक दिव्यमूर्ति विराजमान है, परन्तु उन्हे तो प्रकाश के सिवा कुछ भी दिखाई न पड़ा। जटिल ने दीनवन्धु से प्रार्थना की तो उन्होने वताया कि "तेरे गुरु संसार के माया-जाल मे फँसे हुए है, फिर आज उन्होंने तुझ पर अविश्वास भी किया था, इसलिए वह मुझे नही देख सकते।"

लेकिन जटिल ने आग्रह किया कि वह गुरूजी को दर्शन दे।

गुरूजी जटिल को गोद मे लेकर वैठे। भक्त जटिल पर दही के वारे मे अविश्वास करने और नाराज होने के लिए उन्हें पश्चात्ताप हुआ। शान्त और निर्मल चित्त से उन्होंने दीनवन्धु के दर्शनो की इच्छा की। तव थोड़ी देर में उस दिव्य ज्योति के अन्दर गुरूजी को भी 'दीनवन्धु' के दर्शन हुए।

गुरूजी ने इस दर्शन से अपना जीवन सफल समझा और कहा—"दीनवन्धु ! जव आपने इतनी कृपा की है तव मुझे एक सुखद दृश्य और दिखाओ। तुम दोनो भाई मेरे साथ चलो और अपनी माता को वताओ। आज मै कल्याणी देवी के दर्शन करके अपने जीवन को कृत-कृत्य करूँगा।"

दीनवन्धु ने कहा—"अच्छा ! तुम जटिल को गोद मे लेकर चलो; मै भी थोड़ी देर मे आता हूँ।"

गुरूजी जटिल को लेकर कल्याणी की कुटिया पर गये।

रात अधिक जा चुकी थी। कल्याणी घवड़ा रही थी, तरह-तरह की शंकाएँ उसके मन में उठने लगीं। इतने मे गुरूजी की गोद मे बैठा जटिल आता हुआ दिखाई दिया। गोद से उतर कर जटिल ने कहा—"माँ ! आज मेरे दीनबन्धु भाई तुमसे मिलने आने वाले है।"

"कब ? कव आयेंगे, भइया, वह ?" उत्सुकता से कल्याणी ने पूछा।

"यह आया माँ !" कहकर, दीनवन्धु प्रकट होकर कल्याणी के चरणों की रज लेने लगे।

कल्याणी ने दीनवन्धु का अलौकिक रूप देखा। उनके शरीर मे लाखों सूर्य की ज्योति थी, उस तेज से कल्याणी की आँखें चकाचौंध होने लगीं। उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—"भक्तवत्सल भगवान् ! अपना यह तेज वन्द करो। मुझ पर दया कर पुत्र की तरह मेरे पास आये हो, तो जिस वेश मे यशोदा के पास गये थे उसी वेश में एक वार मेरी गोद मे वैठो।"

माता की आज्ञा पाकर दीनवन्धु गोपाल-नन्दन के वेश में उसकी गोद मे वैठे। गुरूजी ने जटिल को भी उनके साथ माता की गोद में विठा कर एकाग्रता से भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और कहा—"माता ! यशोदा के रूप मे आज कृष्ण-वलराम को तुमने अपनी गोद में वैठाया है। इसी स्वरूप में आज मेरा प्रणाम स्वीकार करो।"